ब्रह्मसूत्र
वेदान्त दर्शन
नंदलाल

महर्षि वेदव्यास प्रणीत

ब्रह्मसूत्र-वेदान्त दर्शन

भगवान श्री वेदव्यास ने इस ग्रन्थ में परब्रह्म के स्वरूप का साङ्गोपांग निरूपण किया है, इसलिए इसका नाम ब्रह्मसूत्र है तथा वेद के सर्वोपरि सिद्धांतों का निदर्शन कराने के कारण इसका नाम वेदान्त दर्शन भी है। चार अध्यायों और सोलह पादों में विभक्त इस पुस्तक में 'ब्रह्म' की पूर्ण व्याख्या दी गई है; जिससे जिज्ञासुओं की समस्त भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है तथा उनकी ब्रह्म में प्रतिष्ठा हो जाने पर वह परम मुक्ति का अनुभव कर सभी शोक संतापों से मुक्त होकर परमानन्द को उपलब्ध हो जाता है जो इस जीव की परम एवं अन्तिम स्थिति है, जिसे प्राप्त कर लेना ही जीव का अन्तिम उद्देश्य है।

जिस प्रकार किसी वस्तु के निर्माण में छः कारणों की आवश्यकता होती है—निमित्त कारण, उपादान कारण, काल, पुरुषार्थ, कर्म और प्रकृति। इसी प्रकार सृष्टि निर्माण में भी छः ही कारण अनिवार्य हैं। इन छः कारणों की व्याख्या ही भिन्न-भिन्न छः दर्शनों में की गई है। इनमें से निमित्त कारण 'ब्रह्म' की व्याख्या ब्रह्मसूत्र अथवा 'वेदान्त दर्शन' आपके हाथ में है।'

महर्षि वेदव्यास प्रणीत

ब्रह्मसूत्र : वेदान्त दर्शन

उत्तर मीमांसा, शारीरिक दर्शन और पूर्ण प्रज्ञा-दर्शन ।

अनुवाद और व्याख्या

श्री नन्दलाल दशोरा

मूल्य—४०.००

प्रकाशक ।

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन), हरिद्वार

प्रकाशक :

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन)

रेलवे रोड, (आरती होटल के पीछे)

हरिद्वार (२४६४०१)

फोन : (०१३३४) ६२६७

प्रमुख विक्रेता :

१. पुस्तक संसार, बड़ा बाजार, हरिद्वार-२४६४०१
२. पुस्तक संसार, १६७-१६८, नुमाइश का मैदान, जम्मू-१८०००१
३. गगनदीप पुस्तक भण्डार, एस० एन० नगर, हरिद्वार

अनुवाद और व्याख्या—

श्री नन्दलाल दशोरा

प्रथम संस्करण : १९९१

मूल्य : चालीस रुपए मात्र

मुद्रक :

सुरेन्द्र प्रिंटर्स

४/१२३, सरवरिया मार्केट, विश्वास नगर

शाहदरा, दिल्ली-११००३२

विषय-सूची

पहला अध्याय (समन्वयाध्याय)

दूसरा अध्याय (अविरोधाध्याय)

पाद १

सूत्र	विषय	पृष्ठ संख्या
पाद २		
(१-१०)	सांख्योक्त प्रधान सृष्टि रचना का कारण नहीं है	१२६
(११-१७)	वैशेषिकों के परमाणुवाद का खण्डन	१३१
(१८-३२)	बौद्धमत का खण्डन	१३४
(३३-३६)	जैनमत का खण्डन	१४१
(३७-४१)	पाशुपत मत का खण्डन	१४३
(४२-४५)	पांचरात्र आगम का परिहार	१४५
पाद ३		
(१-१३)	ब्रह्म के सिवा सभी उत्पत्तिशील	१४८
(१४-२५)	प्रलय क्रम एवं इन्द्रियों का उत्पत्ति क्रम	१५३
(१६-२०)	जीवात्मा की नित्यता	१५४
(२१-२९)	जीवात्मा के अणुत्व एवं विभुत्व का प्रतिपादन	१५६
(३०-३२)	जीव शरीर के सम्बन्ध से एक देशीय है अन्यथा विभू है	१६०
(३३-४२)	जीवात्मा का कर्तापन अन्तःकरण से	१६२
(४३-५३)	जीवात्मा ईश्वर का अंश है, वह दोषों से लिप्त नहीं होता। कर्मों का विभाग देह सम्बन्ध से	१६७
पाद ४		
(१- ४)	इन्द्रियों की उत्पत्ति परमात्मा से	१७३
(५- ७)	इन्द्रियाँ सात नहीं ग्यारह हैं	१७५
(८-१३)	मुख्य प्राण की उत्पत्ति ब्रह्म से	१७६
(१४-१६)	ज्योति का अधिष्ठाता ब्रह्म एवं शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा	१७८

तीसरा अध्याय (साधनाध्याय)

चौथा अध्याय (फलाध्याय)

पाद १

—:: ० ::—

भूमिका

(अ) **अध्यात्म परिचय**—अध्यात्म ज्ञान इस सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। सभ्यता के आरम्भ में आदिम सभ्यता होती है जिसका जीवन शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र करना होता है। धीरे-धीरे इसका विकास होकर वह उच्च कामनाओं से प्रेरित होकर भौतिक एवं मानसिक उन्नति करके बुद्धि का विकास करती है जिससे वह विज्ञान को जन्म देती है। विज्ञान की पूर्णता आने पर भौतिक समृद्धि प्राप्त करके भी जब व्यक्ति को शान्ति एवं आनन्द का अनुभव नहीं होता तो वह संसार को असार समझ कर उच्च कामना की ओर प्रेरित होकर उस तत्व की खोज में निकलता है जिससे उसे शाश्वत सुख एवं शान्ति प्राप्त हो सके। इसकी प्राप्ति के लिए वह भौतिकता से ऊपर उठकर सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को जानने की जिज्ञासा करता है। वह यह जानना चाहता है कि इस सृष्टि की रचना किस प्रकार हुई ? यह किसके सहारे चल रही है ? क्या इसका अन्त भी होगा ? जड़ एवं चेतन में भेद क्यों है ? इसकी रचना का मूल तत्व क्या है ? जीव क्या है ? मृत्यु क्या है ? क्या पुनर्जन्म भी होता है ? मृत्यु के बाद जीव की क्या गति होती है ? आदि अनेक प्रश्न उच्च मनस वाले व्यक्ति में ही उत्पन्न होते हैं जिससे वह इन सबको जानने की जिज्ञासा करता है तथा इनका समाधान ढूंढ़ता है। सामान्य व्यक्ति केवल शारीरिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति मात्र

करके संतुष्ट हो जाता है तथा आगे के एवं उच्च जीवन के लिए उसका अपरिपक्व मस्तिष्क कल्पना ही नहीं कर सकता कि इस भौतिक एवं ज्ञात जगत् के पीछे कोई अभौतिक एवं अज्ञात शक्तियाँ भी हैं जो इसका संचालन एवं नियमन कर रही हैं किन्तु उच्च मनस वाले व्यक्ति इन गूढ़ रहस्यों की खोज करके परम एवं शाश्वत मूल्यों के रहस्यों को प्रकट करता है जो अन्य सामान्य जनों के लिए प्रेरणा का विषय बनता है जिसे जानकर वे भी अपने जीवन को उच्च स्तर का बना सकते हैं तथा जीवन में पूर्णता का अनुभव कर परमशांति को प्राप्त होते हैं। यहीं से अध्यात्म ज्ञान का आरम्भ होता है। अध्यात्म ज्ञान कभी भी संसार का तिरस्कार नहीं करता, न उसे विकृत ही करता है बल्कि इसे और सुखद बनाता है। इस ज्ञान को प्राप्त करके व्यक्ति अनेक सांसारिक कुण्ठाओं से मुक्त होकर इस जीवन को आनन्द से जीता हुआ आगे के जीवन को भी आनन्दमय बना सकता है। इस प्रकार विज्ञान एवं अध्यात्म इस जीव के दो पंख हैं जिनके सहारे वह निर्विघ्न अपनी उड़ान भरता है। एक का सहारा लेकर वह कभी भी जीवन को सार्थक नहीं बना सकता। इसलिए भौतिक उन्नति के साथ-साथ उसका आध्यात्मिक विकास सर्वाधिक महत्वपूर्ण है अन्यथा वह उस पंगु की भाँति है जो एक ही टाँग से दौड़ने का प्रयास करता है जो कभी संभव नहीं है। सुसंस्कृत व्यक्ति की पहचान भौतिक साधनों से नहीं आँकी जा सकती। वह उसकी उच्च मानसिकता एवं आध्यात्मिक उपलब्धि से ही आँकी जाती है चाहे वह भौतिक साधनों से विपन्न ही क्यों न हो। इसलिए अध्यात्म ज्ञान को ही सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान माना गया है। इसी कारण आज ऋषि-मुनियों का, अवतारों

का, तीर्थंकर, पैगम्बरों आदि का समाज में जो स्थान है वह किसी धनपति का नहीं है। इनकी वाणी हजारों वर्षों से सुनी जा रही है यही इस ज्ञान का महत्व है।

(आ) **वेदान्त दर्शन**—भारतीय दर्शन का समस्त सार उपनिषदों में संग्रहीत है जिनका मूल आधार वेद है जिनमें सृष्टि की पूर्ण व्याख्या मिलती है। वेदों के ज्ञान के आधार पर ही विभिन्न ऋषियों ने विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत कर इस ज्ञान को विस्तार से स्पष्ट किया जिससे इनमें थोड़ी बहुत भिन्नता मिलती है। जिस प्रकार किसी वस्तु के निर्माण में छः कारणों की आवश्यकता होती है—निमित्त कारण, उपादान कारण, काल, पुरुषार्थ, कर्म एवं प्रकृति, उसी प्रकार सृष्टि निर्माण में भी ये छः ही कारण अनिवार्य हैं। इन छः ही कारणों की व्याख्या भिन्न-भिन्न छः दर्शनों में की गई है जिनमें निमित्त कारण 'ब्रह्म' की व्याख्या 'वेदान्त दर्शन' में है। अन्य दर्शन-न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा एवं सांख्य है जिनमें क्रमशः उपादान कारण (परमाणु), काल, पुरुषार्थ, कर्म तथा प्रकृति परिगणन की तत्वों के अनुक्रम से व्याख्या की गई है। किन्तु ये सभी कारण भिन्न-भिन्न एवं स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करते बल्कि इनका सुसामंजस्य है तथा ये किसी एक ही परम सत्ता के अधीन कार्य करते हैं जिससे इस सृष्टि में एक व्यवस्था, एक नियम, तथा एक ही प्रकार के परिणाम सर्वत्र दिखाई देते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार इस सम्पूर्ण सृष्टि रचना में ब्रह्म ही एक ऐसा तत्व है जो इन सबका नियोजन करने वाला है तथा ये छः ही कारण उसी एक की अभिव्यक्ति मात्र हैं। इनकी किसी भी प्रकार से भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ब्रह्म इन सभी कारणों का परम कारण है। कुछ मतावलम्बी प्रकृति को

उपादान कारण मानते हैं। जो अनादि है तथा उसी को सृष्टि का कारण मानते हैं किन्तु वेदान्त दर्शन प्रकृति को भी उस ब्रह्म की एक शक्ति मात्र तथा उसी से उत्पन्न मानता है। इसकी भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसलिए ब्रह्म को ही उपादान कारण माना गया है। वेदान्त के अनुसार इस समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् का आरम्भ ब्रह्म से ही होता है तथा प्रलय काल में यह पुनः उसी ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस तत्व का कभी नाश नहीं होता। सृष्टि निर्माण में केवल रूप बनते और बिगड़ते हैं तथा सृष्टि के मध्य में भी यह तत्व इसके हर कण में सूक्ष्म रूप से व्याप्त रहता है। सृष्टि के आदि और अन्त में यह निर्विकार, निर्गुण एवं शान्त अवस्था में रहता है तथा सृष्टि में यही साकार एवं सगुण रूप होकर व्यक्त होता है। वेदान्त शास्त्र का आरम्भ ऐसे ही ब्रह्म तत्व को जानने की जिज्ञासा से होता है। इसका प्रथम सूत्र ही है, 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।' इसे जानकर सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य ज्ञात हो जाता है। फिर जानने को कुछ भी शेष नहीं रहता। इसी को श्रुति कहती है, 'यस्मिन विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवतीति।' (जिसके जानने से यह सब जाना हुआ हो जाता है, वह ब्रह्म है) यह ब्रह्म कैसा है? इसका स्वरूप क्या है? किस प्रकार यह सृष्टि की रचना करता है? इसको जानने की विधि क्या है? तथा इसे जानने का फल क्या होता है? इत्यादि को जानने की जिज्ञासा ही 'ब्रह्म जिज्ञासा' है जिससे इस शास्त्र का आरम्भ किया गया है तथा इसका अन्त इसके जानने के फल से किया गया है 'अनावृत्तिः शब्दात्' (ब्रह्म को प्राप्त हुए जीवात्मा का पुनरागमन नहीं होता, यह बात श्रुति वचन से सिद्ध होती है।) वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत सृष्टि के

मूल तत्व 'ब्रह्म' का ही निरूपण किया गया है जिसके जानने से हृदय ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सभी संशय मिट जाते हैं तथा सभी कर्मों का क्षय हो जाता है। मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है—

"भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वं संशया ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥"

(मुण्डक उप० २/२/८)

इसलिए हर मुमुक्षु के लिए ब्रह्म विषयक जिज्ञासा करना सर्वाधिक महत्व का है। श्रुति कहती है, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।) यह ज्ञान 'ब्रह्मज्ञान' ही है। वेदान्त दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि को ब्रह्ममय मानता है। इसके अनुसार 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (निश्चय ही यह सब ब्रह्म है), 'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ कुछ भी नाना नहीं है) इस प्रकार वह सम्पूर्ण सृष्टि में एकत्व देखता है। भिन्नता की प्रतीति उस ब्रह्म के अज्ञान के कारण होती है। जिसे इसका ज्ञान हो गया वही सभी प्रकार के अज्ञान रूपी झूठे बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है जिससे उसका पुनरागमन नहीं होता। उसे जानने की विधि श्रवण, मनन एवं निदिध्यासना ही है। कर्म द्वारा उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। कर्म की गति स्वर्ग से आगे नहीं है जहाँ से जीवात्मा को भोग समाप्ति के बाद पुनः लौटना पड़ता है। इसलिए ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का एक मात्र मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। ऐसे महत्वपूर्ण विषय को जानने की जिज्ञासा होना भी पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों का ही परिणाम है। इसलिए श्रुति में इसका अधिकार सभी को नहीं दिया गया है। पात्रता

की परीक्षा करके ही गुरु अपने शिष्य को ब्रह्मज्ञान कराता है। यह अपात्र की उपेक्षा नहीं बल्कि ज्ञान की श्रेष्ठता का सूचक है। जिस प्रकार कुत्ते की खाल में दूध भरने से वह दूध अपवित्र हो जाता है उसी प्रकार अश्रेष्ठ को दिया गया ज्ञान भी विकृत हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ ज्ञान श्रेष्ठ व्यक्ति को ही दिया जाने का श्रुति में विधान है। इस श्रेष्ठता की परीक्षा गुरु स्वयं करता है। जिस प्रकार जवाला के पुत्र सत्यकाम के कहनेपर कि उसे अपने पिता एवं गोत्र का पता नहीं है, तो आचार्य गौतम ने उसके सत्य भाषण पर उसे ब्राह्मण घोषित कर उसका उपनयन संस्कार करके उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। यह सत्य भाषण ही उसकी पात्रता सिद्ध हुई। (छान्दोग्य उप० ४/४/३-५)। यह ब्रह्मसूत्र (१/३/३७) में बताई गई है।

(इ) **वेदान्त के रूप**—वेदान्त दर्शन का मुख्य आधार उपनिषद् हैं जिनकी संख्या १०८ है किन्तु इनमें १२ उपनिषद् ही प्राचीन माने जाते हैं। इनमें मुख्यतया ईश्वर, जीव और प्रकृति की एकता पर विचार किया गया है यद्यपि इनमें परस्पर थोड़ा बहुत मतभेद दिखाई देता है किन्तु इनमें वेदों को ही प्रमाण माना गया है। विरोध ज्ञात होने पर वेदों के सूत्रों को ही प्रमाण माना जाता है। विभिन्न ऋषियों के चिन्तन के आधार पर छः दर्शनों का जन्म हुआ जिनमें वेदान्त दर्शन को गत १२०० वर्षों से सर्वाधिक मान्यता मिली है। यद्यपि इसका आधार भी उपनिषद् ही हैं किन्तु इसके भी तीन रूप दिखाई देते हैं। ये तीनों ही अपने मतों की पुष्टि उपनिषदों से ही करते हैं। ये तीन रूप हैं—

१. शंकराचार्य का अद्वैतवाद।
२. रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैतवाद तथा।

३. माधवाचार्य का द्वैतवाद ।

इन तीनों मतों में मतभेद केवल ईश्वर (ब्रह्म) और जीव के बीच के सम्बन्धों को लेकर हैं। यद्यपि तीनों इस सिद्धान्त को मान्यता देते हैं कि ईश्वर और जीव स्वरूपतः एक ही है किन्तु इनकी एकता किस प्रकार की है तथा मुक्तावस्था में जीव की क्या स्थिति रहती है इसमें मतभेद है। शंकराचार्य का मत है कि ईश्वर और जीव एक ही है। यही ईश्वर पूर्ण परब्रह्म है। इसी परब्रह्म के संकल्प के कारण व्यक्तिगत ईश्वर का निर्माण होता है तथा यही बाद में तीन स्वरूपों में अभि-व्यक्त होता है। इनकी उस परब्रह्म से भिन्नता वैसा ही है जैसी कि घड़े के भीतर के आकाश एवं बाहरी आकाश में। इस भिन्नता की प्रतीति माया के कारण है जो अहंकार की उपज है। घड़े के फूट जाने पर (अहंकार के नष्ट हो जाने पर) दोनों आकाश एक ही हो जाते हैं। घड़े के भीतर रहने से उस आकाश की प्रकृति नहीं बदल जाती। ऐसी ही स्थिति जीवात्मा की मुक्ति के समय होती है। व्यक्तिगत जीवात्मा से अहंकार का पर्दा हटते ही उसका व्यक्ति स्वरूप समाप्त हो जाता है तथा वह परब्रह्म ही हो जाता है क्योंकि उनमें भिन्नता थी ही नहीं। अहंकार के कारण ही दोनों में भिन्नता की प्रतीति हो रही थी यही उसका अज्ञान था। इसी को माया कहा गया है जिसका पर्दा हटने पर उसे अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है कि वह परब्रह्म ही है, उससे भिन्न किसी प्रकार भी नहीं है।

इसमें एक प्रश्न पैदा होता है कि व्यक्तिगत आत्मा और परब्रह्म एक ही है तो फिर अन्य देवता की उपासना की आव-श्यकता ही क्या है? इस पर शंकराचार्य का कहना है कि

इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, यदि आपका ऐसा अनुभव हो जाय। अनुभव होने पर आप मुक्त हो जायेंगे किन्तु इसकी सही विधि का जानना आवश्यक है। किन्तु उस सृष्टा (ईश्वर) का भी अस्तित्व है। इसलिए यदि आप चाहें तो उसकी सहायता की माँग कर सकते हैं, उसकी प्रार्थना कर सकते हैं यद्यपि यह आवश्यक नहीं है। उसकी सहायता पाकर भी आप मुक्त हो सकते हैं। शंकराचार्य के अनुसार वह सृष्टा, ईश्वर भी माया का ही अंश है। इसलिए भक्ति का इसमें कोई स्थान नहीं है।

दूसरा मत रामानुजाचार्य का है जिसका आधार भी उपनिषद् और वेद ही हैं। इनके अनुसार मुक्ति में भी जीवात्मा का उस परब्रह्म में उस प्रकार लय नहीं होता जैसा समुद्र में बूंद का। वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व मिटा नहीं देती। परब्रह्म में लय के बाद भी उसकी विशिष्टता बनी रहती है। ये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसलिए इसे 'विशिष्टाद्वैत' कहा जाता है।

तीसरा मत माधवाचार्य का है जिनके अनुसार ईश्वर और जीवात्मा एक ही है किन्तु आरम्भ से ही ये दोनों हैं तथा दोनों में भिन्नता सदा बनी रहेगी। मुक्ति ईश्वर से ही मिलती है क्योंकि वही सृष्टा, शासक एवं सर्वोपरि शक्ति है। वही मुक्ति दाता है। मुक्तावस्था के बाद भी यह द्वैत बना रहता है। इन्होंने भी वेद और उपनिषदों से अपने मत की पुष्टि की है। इस मत को 'द्वैत' मत कहते हैं।

ये तीनों ही विचारक भगवद्गीता को प्रमाण मानते हैं तथा सभी के लिए मुक्ति की संभावना बताते हैं। इन तीनों ही मतों को वेदान्त कहा जाता है।

(ई) **ग्रंथ परिचय**—महर्षि वेदव्यास ने इस ग्रन्थ में परब्रह्म के स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया है इसलिए इसका नाम 'ब्रह्मसूत्र' है तथा वेद के सर्वोपरि सिद्धान्तों का निदर्शन कराने के कारण इसका नाम 'वेदान्त दर्शन' भी है। इसे 'उत्तर मीमांसा' 'शारीरक दर्शन' एवं पूर्ण प्रज्ञादर्शन' भी कहते हैं। इसमें उपनिषदों की मीमांसा है। भारतीय दर्शन में उपनिषद् ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद गीता का ही सर्वोपरि महत्व है जिन्हें 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता है। इनमें ब्रह्मसूत्र का स्थान सबसे ऊँचा है। यह एक प्राचीन ग्रन्थ है। उपनिषदों में ब्रह्म विद्या का मुख्यत: प्रतिपादन किया गया है तथा इन्हीं मन्त्रों का समन्वय इस ग्रन्थ में किया गया है। इन्हीं का सारभूत तत्व गीता में प्रकट किया गया है। इसलिए भारतीय अध्यात्म के प्राण ये तीनों ही ग्रन्थ हैं जो सर्वाधिक मान्यता रखते हैं।

भगवान श्री वेदव्यास ने इस ग्रन्थ को चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त किया है। इसमें पहला अध्याय 'समन्वयाध्याय' है जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि सभी वेदांत वाक्यों में 'ब्रह्म' का ही प्रतिपादन किया गया है। दूसरे अध्याय में सभी प्रकार के विरोधाभासों का निराकरण किया गया है इसलिए इसका नाम 'अविरोधाध्याय' है। जिन विभिन्न दर्शनों एवं मान्यताओं के कारण निराकरण करके ब्रह्म को ही जगत् का एक मात्र कारण सिद्ध किया गया है।

तीसरे अध्याय में उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधनभूत ब्रह्मविद्या तथा अन्य उपासनाओं के बारे में निर्णय लिया गया है। अत: इसे 'साधनाध्याय' कहा गया है।

चौथा अध्याय में उन विद्याओं द्वारा साधकों को अपने

अधिकार के अनुसार होने वाले फलों के विषय में निर्णय किया गया है। इस कारण इसे 'फलाध्याय' कहा गया है।

इन चारों अध्यायों के सोलह पादों में 'ब्रह्म' की पूर्ण व्याख्या दी गई है जिससे जिज्ञासुओं की समस्त भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है तथा उनकी ब्रह्म में प्रतिष्ठा हो जाने पर वह परम मुक्ति का अनुभव कर सभी शोक संतापों से मुक्त होकर परमानन्द को उपलब्ध हो जाता है जो इस जीव की परम एवं अन्तिम स्थिति है जिसे प्राप्त कर लेना ही जीव का अन्तिम उद्देश्य है।

उदयपुर (राज०)
दिनांक १०-८-१९८९

लेखक—
नन्दलाल दशोरा

ग्रन्थ सार

वेदों को प्रमाण मानकर महर्षि वेदव्यास ने इस ग्रन्थ (ब्रह्मसूत्र) में उपनिषदों के प्रमाण देकर जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उनको पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ दिया जा रहा है जिससे इसका सार एक दृष्टि में ज्ञात हो सके।

(अ) **परब्रह्म का स्वरूप—**

१. परब्रह्म की श्रेष्ठता चार बातों से सिद्ध होती है—(१) वह सबको धारण करने वाला है। (२) वह सबसे बड़ा है। (३) वह समस्त प्रकृतियों का स्वामी, शासक एवं संचालक है, तथा प्रकृतियाँ इससे संचालित हैं। (४) वह इन प्रकृतियों से भिन्न भी है। इस प्रकार परब्रह्म सबसे श्रेष्ठ एवं विलक्षण है।

२. जब वह परब्रह्म अपनी कारण अवस्था में रहता है तो उसकी 'परा' एवं 'अपरा' प्रकृति रूप दोनों शक्तियाँ सृष्टि से पूर्व उसमें अभिन्न रूप से विद्यमान रहती हुई अप्रकट रहती हैं। यही उसका निराकार स्वरूप उसकी कारण अवस्था है। जब वह कार्य रूप में स्थित होता है तो उसकी विभिन्न शक्तियाँ भिन्न-भिन्न नाम रूपों में प्रकट होती हैं। यही साकार रूप उसकी कार्य अवस्था है।

३. जिस प्रकार प्रकाश और सूर्य तेज की दृष्टि से अभिन्न हैं वैसे ही परब्रह्म और उसकी शक्ति अभिन्न होते हुए भी उनका अलग-अलग वर्णन किया गया है।

४. सगुण ब्रह्म (अपर ब्रह्म या कार्य ब्रह्म) तथा निर्गुण ब्रह्म, (परब्रह्म) ब्रह्म के भिन्न-भिन्न दो स्वरूप नहीं हैं बल्कि वही इन दोनों लक्षणों से युक्त है, दो रूप वाला नहीं है। जिस प्रकार विद्युत अप्रकट रूप है तथा अग्नि उसका प्रकट रूप है, अप्रकट ही प्रकट होता है तथा प्रकट का आधार अप्रकट ही है। इसलिए विद्युत और अग्नि ज्योति के दो रूप नहीं हैं।

५. वह परब्रह्म अपनी जड़ चेतन रूप दोनों प्रकृतियों 'अपरा' तथा 'परा' से सर्वथा विलक्षण है। इन्हीं प्रकृतियों को 'क्षर' और 'अक्षर', 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ', प्रकृति और 'पुरुष' कहा गया है जिनका विस्तार ही यह दृश्य जगत् है।

६. परमात्मा ही कर्मफल दाता है, अन्य कोई नहीं।

७. यह प्रकृति उस परब्रह्म की ही शक्ति है जो उससे अभिन्न है। सांख्य मत की भाँति इसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस परब्रह्म की ही 'परा प्रकृति' चेतन समुदाय है तथा 'अपरा', 'प्रकृति' ही जड़ समुदाय है। दोनों उस परब्रह्म की ही शक्तियाँ हैं।

८. यह परब्रह्म सत्, चित्त एवं आनन्द स्वरूप है। वह नित्य एवं शाश्वत है। प्रकृति अनित्य है एवं शाश्वत नहीं है। वह सत् के ज्ञान के अभाव में नित्य जैसी प्रतीत होती है। यही भ्रम है जो बन्धन का कारण है। सत् का ज्ञान

होने पर प्रकृति अपने कारण परब्रह्म में विलीन हो जाती है।

९. परमात्मा 'परा प्रकृति' (जीवात्मा) तथा 'अपरा प्रकृति' (जड़ प्रकृति) दोनों पर शासन करने वाला है। प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है।

(ब) सृष्टि रचना और प्रलय—

१०. इस समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् का एक मात्र निमित्त एवं उपादान कारण वह परब्रह्म ही है। यही वह मूल-तत्व है जिससे सृष्टि की रचना होती है, उसी से संचालित होती है तथा प्रलयकाल में उसी में विलीन हो जाती है। यह सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है जो ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

११. यह जड़ प्रकृति सृष्टि का कारण नहीं है।

१२. प्रलय काल में वह सबको अपने में विलीन करने के कारण ही उसे 'भोक्ता' कहा गया है।

१३. कल्प के आरम्भ में सृष्टि की रचना उसी प्रकार होती है जैसी पूर्व कल्प में हुई थी। वेद भी नित्य है। प्रत्येक कल्प में इनकी भी नई रचना नहीं होती।

१४. हर कल्प में उसी नाम, रूप और ऐश्वर्य वाले देवता उत्पन्न होते हैं किन्तु उनके जीव बदल जाते हैं, इसलिए वे नित्य हैं तथा जन्म-मरण से मुक्त हैं।

१५. जगत् के कारण के समाधान के लिए वेदानुकूल स्मृतियाँ ही प्रमाण हैं। सांख्य और योग दर्शन वेदानुकूल नहीं होने से प्रमाण नहीं है।

१६. जिस प्रकार बीज में सम्पूर्ण वृक्ष की सत्ता विद्यमान है उसी प्रकार यह जगत् अप्रकट रूप से, शक्ति रूप से उस परब्रह्म में विद्यमान है। प्रलयकाल में भी यह शक्ति रूप से ब्रह्म में विद्यमान रहता है तथा रचना काल में वही शक्ति जड़-चेतन के रूप में प्रकट होती है। प्रलय काल में यह जगत् अव्यक्त रूप से (सूक्ष्म रूप से) ब्रह्म में विद्यमान रहता है। सत्ता का कभी नाश नहीं होता, रूपान्तरण मात्र होता है।

१७. सृष्टि रचना में ब्रह्म से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

(स) जीवात्मा और परमात्मा—

१८. जीवात्मा और परमात्मा में भेद है। जीवात्मा एक देशीय है, परमात्मा सर्वव्यापी है। जीवात्माएँ अनेक हैं, परमात्मा एक है। जीवात्मा राग, द्वेष, पुरुषार्थ, दुःख-सुख, जानना आदि गुणों वाली है, परमात्मा इनसे परे इन सबका साक्षी है। जीव व्याप्य है, ईश्वर व्यापक है। जीवात्मा भोग एवं उनके फल का भोक्ता है, परमात्मा साक्षी है। परब्रह्म उपास्य है, जीवात्मा उपासक है। ब्रह्म जीव नहीं है, उससे अधिक है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है। जीव ईश्वर के अधीन है, परमात्मा उसका शासक एवं स्वामी है, वह प्रकृति का भी स्वामी है। ब्रह्म जानने योग्य है, जीवात्मा जानने वाला है। आदि।

१९. वह ब्रह्म ही आनन्दमय है, जीवात्मा नहीं। देवता भी जीवात्मा ही है।

२०. परमेश्वर कारण है व जीव उसका कार्य है, किन्तु दोनों अनन्य होने से 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि कहा जाता है। ब्रह्म अपनी 'परा' एवं 'अपरा' प्रकृति दोनों से भिन्न होते हुए भी इनका कारण होने से अभिन्न हैं।

२१. जीव के सुख-दुःखों का सम्बन्ध उसके कर्मों से है। ईश्वर स्वयं सुख-दुःख नहीं देता।

२२. जीव और उसके कर्म अनादि हैं। प्रलय काल में भी उसकी सत्ता एवं सूक्ष्म विभाग का अभाव नहीं होता। नये कल्प में फिर उसी के अनुसार रचना होती है। जिस प्रकार नमक जल में घुलकर भी अपनी सत्ता को मिटा नहीं देता, उसी प्रकार जीव एवं कर्म ब्रह्म में सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं। प्रलयकाल में भी जीव अपने आप मुक्त नहीं होते।

२३. यह जीवात्मा नित्य, शाश्वत व पुराण है। शरीर के नाश होने से इसका नाश नहीं होता जड़-प्रकृति और जीव दोनों ही प्रलय काल में भी अपने धर्मों का त्याग नहीं करते।

२४. जीवात्मा नित्य है, उसका नाश नहीं होता। वह परलोक में जाकर पुनः लौटता है। जीवात्मा अणु स्वरूप है। वह विभु (व्यापक) नहीं है। जहाँ आत्मा को 'विभु' कहा गया है वहाँ उसका अर्थ परमात्मा से है।

२५. प्रलय काल में जीवात्मा अपने कारण शरीर सहित अव्यक्त रूप से ब्रह्म में विलीन रहता है तथा सृष्टि काल में पुनः सूक्ष्म एवं स्थूल रूपों में प्रकट होता है।

२६. जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु पूर्व जन्मों में

किये गये कर्मों के फलस्वरूप उसका जो स्वभाव बन गया है उसी के अनुसार वह कर्म करता है, इसलिए वह संस्कारों के अधीन है तथा इन्हीं के अनुसार वह फल भोगने में परतन्त्र है। कर्मफल ईश्वर स्वयं देता है। विवेक जाग्रत होने पर सद्कर्म में प्रवृत्त होता है।

२७. जीवात्मा अपने कर्मों में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। उसके संस्कार, इन्द्रियाँ, शरीर तथा सहकारी बाह्य कारणों की उपलब्धि में वह परतन्त्र है। शरीर की शक्ति भी सदा अनुकूल नहीं रहती। इसलिए वह परतन्त्र है।

२८. जीवात्मा का कर्तापन उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है, क्योंकि समाधि अवस्था में कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है। उसका कर्तापन अन्तःकरण आदि के सम्बन्ध से है, अन्यथा वह भी अकर्ता एवं निष्क्रिय है।

२९. वास्तव में समस्त कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं किन्तु अहंकार वश वह अपने को कर्ता मान लेता है।

३०. जीवात्मा का कर्तापन परमेश्वर के सहयोग एवं उसकी शक्ति से है, इसलिए उसका कर्तापन ईश्वराधीन है, किन्तु वह अपने को कर्ता मानता है इसलिए वह भोक्ता हो जाता है। जीवात्मा को नवीन कर्म करने की शक्ति एवं सामग्री पूर्वकृत कर्म संस्कारों की अपेक्षा से ही प्राप्त होती है।

३१. ईश्वर द्वारा दी गई शक्ति एवं सामग्री का सद् उपयोग वह विवेक द्वारा करके सदाचरण में प्रवृत्त हो सकता है। इसमें वह स्वतन्त्र है। दुरुपयोग करने पर ईश्वर दोषी

नहीं है। इसलिए विधि-निषेध शास्त्रों की आवश्यकता है।

३२. जीव ईश्वर का ही अंश है। उसका ईश्वर से सम्बन्ध सन्तान एवं पिता की भाँति है किन्तु ईश्वर उसके सुख दुःखों में लिप्त नहीं होता।

३३. जीवात्मा विभु (व्यापक) होते हुए भी अपने कारण-शरीर के आवरण के कारण प्रलय काल में भी उसका विभाग बना रहता है तथा सृष्टि काल में भी शरीरों के सम्बन्ध से उसके कर्मों का मिश्रण नहीं होता, विभाग बना रहता है। उसकी व्यापकता सीमित है।

३४. जीवों को ईश्वर का अंश न मानकर स्वतन्त्र मानने पर उनके कर्मफल की व्यवस्था नहीं हो सकती। जीव स्वयं अपने लिए कर्मफल की व्यवस्था नहीं कर सकता, व परमात्मा भी अलग रहकर इसकी व्यवस्था नहीं कर सकता।

३५. इन विधि-निषेध आदेशों का सम्बन्ध केवल शरीर से है।

३६. शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा है। वह भी नित्य है। वह परमेश्वर के साथ ही सख्य भाव से रहने वाला है। जगत् की रचना करना जीवात्मा का कार्य नहीं है। उसमें कर्म करने की शक्ति परमात्मा से ही प्राप्त होती है।

३७. वह परब्रह्म ही सबका अन्तरात्मा है। जीवात्मा सब का अन्तरात्मा नहीं है।

३८. जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता उपासना की दृष्टि

से ही स्थापित की गई है, अन्यथा दोनों में भेद है। परमात्मा के जो धर्म हैं वे जीवात्मा में नहीं हैं। दोनों के धर्मों में कोई समानता नहीं है। (यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है।) इसलिए उनमें सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता।

३९. परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ दृष्टा है, वही सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है। इसकी अपेक्षा जीव दृष्टा होते हुए भी उसका दृष्टापन परमेश्वर के ही कारण है। इसलिए उसे सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

(द) ब्रह्मविद्या की साधना—

४०. परब्रह्म की अनुभूति चित्त में ही होती है, अन्यत्र नहीं। इसलिए उसे हृदय में स्थित बताया गया है। अन्यथा वह सर्वव्यापी है।

४१. ब्रह्मविद्या के द्वारा जो परमात्मा को जान लेता है वह देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है जहाँ से जीवात्मा का पुनरागमन नहीं होता।

४२. जीवात्मा में भी ईश्वर के समान गुण होते हुए भी वे तिरोहित हैं। वे उसके चिन्तन से प्रकट होते हैं। उनके प्रकट न होने से ही बन्धन हैं एवं प्रकट हो जाना ही मुक्ति है। ईश्वर के गुणों के प्रकट न होने का कारण उसका शरीर के साथ एकता मान लेना है।

४३. यदि परमात्मा साकार नहीं है तो उपासना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। उपासना से वह प्रत्यक्ष होता है। उसका प्रत्यक्ष दर्शन संभव है। बिना अभ्यास के वह संभव नहीं है।

४४. परब्रह्म का जगत् से भेद और अभेद दोनों प्रकार के सम्बन्ध हैं। ज्ञान मार्गी अभेद उपासना को ग्रहण करते हैं एवं भक्त भेदोपासना को। दोनों का फल एक ही है।

४५. सभी उपासनाएँ भिन्न-भिन्न उद्देश्य से की जाती हैं इस-लिए उनका समुच्चय न करके अलग-अलग ही करनी चाहिए।

४६. आचार्य जैमिनी विद्या को कर्मों का अंग मानते हैं किन्तु बादरायण (व्यास) इसे कर्मों का अंग नहीं मानते। ब्रह्म-ज्ञानी के कर्म साथ नहीं जाते। वे यहीं नष्ट हो जाते हैं।

४७. ब्रह्म को जानने के लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा ध्यानाभ्यास तो अवश्यक ही है। इसके बिना ब्रह्म साक्षा-त्कार नहीं होता।

४८. ब्रह्मविद्या के साधक को आपत्ति काल के अलावा साधा-रण अवस्था से आचार का त्याग नहीं करना चाहिए। जिस आश्रम में वह रहता है उस आश्रम के कर्म उसके लिए विहित है। इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

४९. निष्काम भाव से किये जाने वाले शास्त्र विहित कर्म भी परमात्मा की प्राप्ति में सहायक हैं। उन्हें भी अवश्य करते रहना चाहिए।

५०. केवल उपासना से भी परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। यह सभी आश्रमों में की जा सकती है।

५१. अन्य सब धर्मों की अपेक्षा भगवान की भक्ति विषयक धर्म अधिक श्रेष्ठ है।

५२. जो साधक उस परब्रह्म के तत्व को नहीं समझ सकता

उसके लिए प्रतीकोपासना का विधान किया गया है।

५३. ज्ञानी के लिए भी आसक्ति का त्याग कर लोक संग्रह के लिए कर्म करने का विधान है।

५४. प्रतीकोपासना करने वालों को उसी के अनुसार फल मिलता है। वे न तो ब्रह्मलोक में जाते हैं, न ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

(य) ब्रह्मविद्या का अधिकार—

५५. ब्रह्मविद्या का अधिकार सभी आश्रमों में है। संन्यास एक विधि मात्र है। इसमें सुगमता है। विद्या के लिए कर्म अपेक्षित हैं, मोक्ष के लिए नहीं हैं। मोक्ष ब्रह्म विद्या से ही होता है, कर्म से नहीं।

५६. ब्रह्मज्ञान में देवताओं का भी अधिकार है।

५७. शूद्र का उपनयन संस्कार नहीं होने से उनका वेदविद्या में अधिकार नहीं है। शूद्रत्व का भाव निश्चित करने के लिए आचार्य की ही प्रवृत्ति (निर्णय) गुणों के आधार पर होती है।

(फ) ब्रह्मविद्या का फल—

५८. ब्रह्मज्ञान का फल जन्म-मरण से छूटकर उस परब्रह्म को प्राप्त होना ही है। यही मुख्य फल है जिसका वेदान्त में वर्णन किया गया है।

५९. केवल मात्र ब्रह्मविद्या ही मुक्ति की हेतु है, यज्ञादि कर्म नहीं। देवताओं की उपासना तथा ब्रह्मविद्या के साधक को भी उसके उद्देश्य के अनुसार फल मिलता है तथा

साधकों की योग्यता के अनुसार भी फलों में भेद हो जाता है।

६०. यज्ञादि कर्मों का फल स्वर्गादि में जाकर लौट आना है और ब्रह्मज्ञान का फल जन्म-मरण से छूट कर परमात्मा को प्राप्त होना है।

६१. भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना भिन्न-भिन्न उद्देश्य से की जाती है तथा उद्देश्य के अनुसार ही उसका फल होता है, किन्तु एक ही उद्देश्य से की जाने वाली ब्रह्मविद्या में भी साधकों की भिन्न-भिन्न भावना होने से उसका फल भी भिन्न-भिन्न होता है तथा साधकों की योग्यता में भिन्नता होने से भी उसकी फल प्राप्ति में भेद हो जाता है। संसार बन्धन से मुक्ति तथा परमात्म प्राप्ति तो यथा समय ही होती है।

६२. जिनका ब्रह्मलोक में भोगों की प्राप्ति का संकल्प है उनको ब्रह्म साक्षात्कार नहीं हो सकता। जो समस्त प्रकार के भोगों से विरत है, उन्हीं को ब्रह्म साक्षात्कार होता है, अन्य को नहीं।

६३. ये कामनाएँ ही ब्रह्म प्राप्ति में बाधक हैं। जिनकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, यहाँ तक कि स्वर्ग के भोगों की भी कामना नहीं होने पर ही वह जन्म-मरण से छूट कर अमर हो जाता है तथा उसे मनुष्य शरीर में ही पर-ब्रह्म का अनुभव हो जाता है।

६४. सभी ब्रह्मविद्या अन्त में मोक्ष देने वाली है, किन्तु किसी का ब्रह्मलोक में जाना और किसी का यहीं ब्रह्म को प्राप्त

हो जाना इत्यादि जो फल भेद है इनका निषेध नहीं किया गया है। जिसकी किसी प्रकार की वासना शेष नहीं है तथा जिन्हें मृत्यु से पूर्व ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है, वे अन्य किसी लोक में न जाकर सीधा ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है तथा प्रारब्ध भोग समाप्त होने पर उसको स्थूल सूक्ष्म व कारण शरीर के तत्व अपने-अपने कारण तत्वों में विलीन हो जाते हैं। किन्तु जिनके अन्तःकरण में ब्रह्म-लोक के महत्व का भाव है तथा जिनका सूक्ष्म एवं कारण शरीर से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ है ऐसे साधक ब्रह्म-लोक में जाते हैं। यह फल भेद उचित है।

६५. यदि कोई विघ्न उपस्थित न हो तो इसी जन्म में मुक्ति रूप फल की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा वह फल जन्मान्तर में मिलता है। किया हुआ अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता।

६६. ज्ञानी के संचित एवं क्रियमाण कर्म समाप्त हो जाते हैं एवं प्रारब्ध कर्म भोग से समाप्त हो जाने से उसका पुनर्जन्म नहीं होता। ज्ञान प्राप्ति के बाद पुण्य एवं पाप कर्म दोनों नष्ट हो जाते हैं जिससे वह परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

६७. ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर्मों का फल नहीं है बल्कि कर्म क्षय से प्राप्त होती है। यह ज्ञान का ही फल है।

६८. परमात्मा की प्राप्ति का फल हर्ष-शोक का नाश, मृत्यु से छूटना, अविद्या का नाश, हृदय ग्रन्थि का नाश, समस्त संशयों एवं कर्मों का नाश, पापों से छूटना आदि है तथा

इनके छूटने से परमात्मा की प्राप्ति होती है। दोनों का अन्तर्भाव एक ही है।

६९. जो महापुरुष (ज्ञानी) जीवनकाल में ही परब्रह्म को प्राप्त हो गये हैं उनका किसी भी लोक में गमन नहीं होता। देहपात के बाद ये सीधे परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। उनका परमात्मा से विभाग नहीं रहता।

७०. ज्ञानी पुरुष की दो गतियाँ उसके संकल्प के अनुसार होती हैं। वह यदि मुक्त होने का संकल्प करता है तो वह यहीं ब्रह्म-सायुज्य को प्राप्त हो जाता है, परन्तु ब्रह्मलोक में जाने का संकल्प करने पर वह देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।

७१. ब्रह्मलोक में जाने वाले सभी साधक एवं उपासक इसी देवयान मार्ग से ही ब्रह्मलोक को जाते हैं। अन्य कोई मार्ग नहीं है।

७२. कुछ अधिकार प्राप्त महापुरुष जैसे वशिष्ठ, व्यास आदि लोक कल्याण के लिए कहीं भी आ-जा सकते हैं। सामान्य व्यक्तियों की भाँति उनका जन्म-मरण नहीं होता। वे परमेश्वर की आज्ञा से ही इस लोक में आते हैं एवं अपना कार्य करके पुनः परमात्मा में लीन हो जाते हैं। वे अन्य मुक्त पुरुषों से भिन्न होते हैं।

(क) मृत्यु के बाद जीवात्मा की गति—

७३. ब्रह्मविद्या में तीन प्रकार के उपासक होते हैं—(१) जो इसी जीवन से जीवन्मुक्त होकर सीधे परमात्मा को प्राप्त हो गये हैं (इसका वर्णन पहले किया जा चुका है)।

(२) जो परब्रह्म को प्राप्त न होकर ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ के भोगों को भोगते हैं। (३) जिनको परब्रह्म की प्राप्ति नहीं हुई है।

७४. ब्रह्मलोक में जाने वाले एवं साधारण मनुष्य के देहपात पर सर्वप्रथम वाणी के साथ समस्त इन्द्रियाँ मन में स्थित हो जाती हैं। मन प्राण में, प्राण जीवात्मा में तथा जीवात्मा पाँचों सूक्ष्म भूतों में स्थित हो जाता है। यही सूक्ष्म भूत समुदाय तेज से मिला हुआ है इसलिए इसे तेज भी कहते हैं। यही इसका सूक्ष्म शरीर है।

७५. ब्रह्मलोक में जाने वालों का तथा साधारण मनुष्यों का, जिनका पुनर्जन्म होता है, सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित होने तक का मार्ग एक ही है क्योंकि ब्रह्मलोक में भी जीवात्मा सूक्ष्म शरीर से ही जाता है। अन्य लोकों में गमन भी सूक्ष्म शरीर से ही होता है। यह सूक्ष्म शरीर मुक्तावस्था की प्राप्ति तक रहता है। जब तक साधारण मनुष्य का पुनर्जन्म नहीं होता तब तक वह प्रलय काल की भाँति कर्म संस्कार के सहित अज्ञान की स्थिति में रहता है। यह परमात्मा की प्राप्ति नहीं है। वह परमात्मा में विलीन नहीं होता।

७६. स्थूल शरीर का दाह कर देने से इस सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता, न उसको कोई कष्ट होता है। स्थूल शरीर की यह गर्मी सूक्ष्म शरीर (तेज) की ही है जिसके निकलने पर शरीर ठंडा हो जाता है।

७७. मरणासन्न मनुष्य के समस्त इन्द्रियाँ, प्राण तथा अन्तः करण के लिंग शरीर में एक हो जाने पर हृदय के अग्र-

भाग में प्रकाश हो जाता है। ब्रह्मवेता की यह ज्योति ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से निकलती है तथा ब्रह्मलोक में जाने वाले की यह ज्योति सुषुम्णा नाड़ी से निकलती है। साधारण मनुष्यों की कर्मानुसार अन्य मार्गों से निकलती है।

७८. ब्रह्मवेत्ता की जीवात्मा स्थूल शरीर से निकलकर पहले सूर्यलोक (तेज) में जाती है जो ब्रह्मलोक का द्वार है। यह साधारण मनुष्यों के लिए बन्द रहता है। इस तेजोमय पदार्थ (सूर्य) की गति ब्रह्मलोक तक है। इसी मार्ग से ज्ञानी ब्रह्मलोक तक पहुंच जाता है। ब्रह्मलोक में जाने वाले ज्ञानी के लिए रात्रि या दक्षिणायन काल की कोई बाधा नहीं है।

७९. ब्रह्मलोक में जाने वाले इस मार्ग को अर्चि मार्ग, उत्तरायण मार्ग और देवयान मार्ग कहा गया है। यह एक ही मार्ग है, भिन्न-भिन्न मार्ग नहीं है। सभी साधक इसी मार्ग से जाते हैं। यह मार्ग विभिन्न लोकों में ही होकर जाता है जिनको अभिमानी पुरुष इन्हें आगे के लोकों में पहुँचा देते हैं। ये सूक्ष्म शरीरधारी देवता होते हैं। यह ब्रह्मलोक ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ को प्राप्त होने से है जिसे कार्य-ब्रह्म कहा जाता है। यह ब्रह्म का लोक है जहाँ जीवात्मा अनन्त काल तक रहता है तथा प्रलयकाल में वह ब्रह्मा के सहित परब्रह्म में लय हो जाता है। इनका पुनरागमन नहीं होता।

८०. ब्रह्मलोक में पहुँचे ज्ञानियों का सब लोकों में इच्छानुसार गमन होता है।

८१. ब्रह्मलोक में पहुँचे हुए मुक्तात्माओं का केवल वहाँ के दिव्य भोगों को ही भोगने का अधिकार है। उन्हें जगत् की उत्पत्ति, संचालन तथा प्रलय का कार्य करने का अधिकार नहीं है। यह कार्य परब्रह्म का ही है। ये ब्रह्म के अधीन रहते हैं अतः सृष्टि के कार्यों में हस्तक्षेप करने का उनका अधिकार नहीं है, न उनकी शक्ति ही है।

८२. प्राण जीवात्मा का उपकरण है तथा इन्द्रियों से श्रेष्ठ है क्योंकि उसके निकल जाने पर सभी इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाती हैं किन्तु यह जीवात्मा के अधीन है एवं जड़ है। केवल जीवात्मा ही चेतन है। प्राण के संयोग से ही जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है।

८३. मृत्यु के बाद जीवात्मा स्थूल शरीर का त्याग करके अन्य सभी सूक्ष्म तत्वों को साथ लेकर जाता है जो बीज रूप है। इन्हीं से पुनः नया शरीर धारण करता है।

८४. पुण्य कर्म करने वाले देवयान या पितृयान मार्ग से स्वर्ग लोक को जाते हैं तथा पाप कर्मी नरक में जाते हैं। राजसी लोग पुनः इस मृत्यु लोक में जन्म लेते हैं। यह तीसरी गति है।

८५. स्वर्ग से पुनः लौटने वाले जीव भोग समाप्ति पर क्रमशः आकाश, वायु, धूम, मेघ, वर्षा, अन्न, वीर्य में परिवर्तित होकर मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं। इस प्रकार वे सूक्ष्म से स्थूल शरीर धारण करते हैं। इस यात्रा में विलम्ब नहीं होता।

———

ब्रह्मसूत्र : वेदान्त दर्शन

१. पहला अध्याय : समन्वयाध्याय

१. पहला पाद

सूत्र—१. अथातो 'ब्रह्मजिज्ञासा।'

भावार्थ : अब यहाँ से ब्रह्मविषयक विचार आरम्भ किया जाता है।

व्याख्या—भगवान वेदव्यास अपने शिष्यों को भारतीय अध्यात्म के कई विषयों का उपदेश देते हैं। इसी उपदेश के क्रम में वे अब 'ब्रह्म' विषयक विचार आरम्भ करते हैं। इसमें ब्रह्म के स्वरूप, उसका महत्व, उसका अन्य मतों से अविरोध, इसकी साधना विधि तथा इसे ज्ञात करने पर क्या फल होता है इसका पूर्ण विवेचन किया गया है। भारतीय दर्शन में ब्रह्म ही एकमात्र सर्वोपरि सत्ता है जिससे सृष्टि का निर्माण होता है। वही एक ऐसा तत्व है जो सृष्टि के आदि, अन्त एवं मध्य में उपस्थित रहता है। वह सर्व व्याप्त है। वही इस सृष्टि रूप में अभिव्यक्त होता है। इससे भिन्न कुछ है ही नहीं। श्रुति कहती है 'नेह नानास्ति किंचन' (यहाँ कुछ भी नाना नहीं हैं) भिन्नता की प्रतीति केवल उस ब्रह्म के अज्ञान के कारण है। जिन्होंने इसे नहीं जाना वे ही सृष्टि में भिन्नता देखते हैं जबकि इसको जान लेने पर ज्ञान का प्रकाश होता है। जिससे इन सभी

भिन्नताओं में एकत्व का अनुभव होता है इसी एकत्व के अनुभव से अज्ञान रूपी ग्रन्थि का भेदन होता है जिससे मनुष्य इन अज्ञान रूपी बन्धनों से मुक्त हो जाता है जो जीव की परमगति है।

वेदान्त ग्रंथ (उपनिषदों) में ब्रह्म की जिस प्रकार की व्याख्या की गई है उन्हीं के प्रमाण स्वरूप इस ग्रंथ की रचना 'ब्रह्म जिज्ञासा' से की गई है जिसको जानने का अन्तिम फल है 'मुक्ति'। अतः ब्रह्म को जान लेने पर जीव का फिर पुनरागमन नहीं होता। वह सदा के लिए इस भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। इस कारण 'ब्रह्मज्ञान' का ही सर्वोपरि महत्व है। अन्य किसी कर्म या साधन से मुक्ति नहीं होती क्योंकि सभी कर्म एवं साधन परिणामी हैं तथा व्यक्ति उसी से बंध जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञान ही एक मात्र ज्ञान है जो मुक्ति का कारण है। श्रुति यह भी कहती है, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।) यह ज्ञान 'ब्रह्मज्ञान' ही है जिसकी जिज्ञासा से इस ग्रंथ का आरम्भ किया गया है।

सूत्र—२. **'जन्माद्यस्य यतः।'**

भावार्थ : इस जगत् के जन्म आदि जिससे होते हैं वह ब्रह्म है।

व्याख्या—इस सूत्र में बताया गया है कि वही ब्रह्म एक मात्र मूल तत्व है जिससे सृष्टि की रचना होती है, उसी में स्थित रहकर सुव्यवस्थित रूप से संचालित होती है तथा प्रलय-काल में उसी में विलीन होकर उसी के समान हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि के आदि एवं अन्त में वही शुद्ध स्वरूप में रहता है। मध्य में जो आकार रूप, रंग आदि दिखाई देते हैं

वह सब उसी की अभिव्यक्ति है। वही निर्गुण निराकार ब्रह्म सगुण एवं साकार रूप से सृष्टि में अभिव्यक्त हुआ है। इस लिए यह सृष्टि किसी प्रकार उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सृष्टि में दो तत्व ही नहीं हैं फिर भिन्नता कैसे हो सकती है? इस लिए इसका मूल कारण वही ब्रह्म है। सृष्टि में जड़, चेतन, पदार्थ, जीव, मनुष्य सभी का जो मूल कारण है, वही ब्रह्म है। उसी से इनका जन्म होता है।

सूत्र—३. 'शास्त्रयोनित्वात् ।'

भावार्थ : शास्त्र में उस ब्रह्म को जगत् का कारण बताया गया है इसलिए इसे मानना उचित है।

व्याख्या— यह ब्रह्म अति सूक्ष्म तत्व है, वैज्ञानिकों के परमाणु तथा ऊर्जा से भी अतिसूक्ष्म है। उसे इंद्रियों से नहीं देखा जा सकता, यह मन तथा बुद्धि का भी विषय नहीं है, इसे तर्क से भी नहीं जाना जा सकता अतः यह सामान्य व्यक्ति के जानने में नहीं आ सकता। इसको जानने की एक ही विधि है ध्यान और समाधि जिसमें पहुंचने पर इसकी अनुभूति होती है इसलिए हर व्यक्ति इसकी सत्ता से अनभिज्ञ ही रहता है। किन्तु कुछ व्यक्तियों ने इसे जाना है जिसकी व्याख्या वेद उपनिषद् गीता आदि में की है। इसलिए अन्य व्यक्तियों के लिए जिन्होंने इसे प्रत्यक्ष नहीं किया है, ये शास्त्र ही प्रमाण हैं, तथा जिन्होंने इसे प्रत्यक्ष किया है वे स्वयं ही प्रमाण हैं। उनमें श्रद्धा रखते हुए इसे स्वीकार करना ही उचित है। दुनिया में जितना ज्ञान है वह हर व्यक्ति का अनुभव किया हुआ नहीं है। सभी पुस्तकों से ही आया है, शास्त्रों से आया है, इसलिए उसी को प्रमाण मानना उचित है। महर्षि पतंजलि

ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेद से प्रमाण को तीन प्रकार का बताया है (योग० समाधि० ७।) विद्वानों, ज्ञानियों के वचन तथा शास्त्रों के वचन ही आगम प्रमाण हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा है। जगत् की उत्पत्ति का कारण शास्त्रों में ब्रह्म को ही बताया गया है इसलिए इसे प्रमाण मानकर स्वीकार कर लेना ही उचित है।

सूत्र—४. 'तत्तु समन्वयात् ।'

भावार्थ : तथा यह ब्रह्म समस्त जगत् में पूर्ण रूप से व्याप्त होने के कारण उपादान भी है।

व्याख्या—श्रुतियों में उल्लेख है कि वह ब्रह्म इस सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है क्योंकि वही सम्पूर्ण जगत् में पूर्ण रूप से व्याप्त है। जगत् उससे किसी प्रकार भिन्न नहीं है। वह कुम्भकार जैसा निमित्त कारण नहीं है।

जो अपने से भिन्न उपादान कारण मिट्टी लेकर बर्तन बनाता है। कुछ शास्त्र प्रकृति (उपादान कारण) को ब्रह्म से भिन्न मानकर व्याख्या करते हैं किन्तु वेदांत दर्शन कहता है कि यह उपादान कारण प्रकृति भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है बल्कि उसी से उत्पन्न हुई है। मुण्डक उपनिषद् में कहा है, 'जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और उसे निगल जाती है, तथा जिस प्रकार पृथ्वी से नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोएँ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी परब्रह्म से इस सृष्टि में सब कुछ उत्पन्न होता है।'

(मुण्डक उप० १/१/७)

इस प्रकार इस सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसी से उत्पन्न हुई है।

गीता (७/४ एवं ७/५) में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा मन, बुद्धि, अहंकार यह आठ प्रकार के भेदों वाली मेरी जड़ प्रकृति 'अपरा प्रकृति है तथा दूसरी जीव रूप 'परा प्रकृति' अर्थात चेतन प्रकृति है जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि उपादान कारण यह प्रकृति उसी परब्रह्म की ही शक्ति है। उससे भिन्न नहीं है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/३) में उल्लेख है कि 'उसी परमात्मा ने उस जड़ प्रकृति की रचना का कर्म करके उसका निरीक्षण कर फिर चेतन तत्व का जड़-तत्व से संयोग कराके इस जगत की रचना की।'

इस प्रकार शास्त्रों के प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म ही इस सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण दोनों है। उससे भिन्न कुछ है ही नहीं तो उससे प्रथक उपादान कारण कहाँ से आ सकता है।

सूत्र—५. 'ईक्षतेनशिब्दम्'

भावार्थ : श्रुति में 'ईक्ष' धातु का प्रयोग होने के कारण शब्द प्रमाण-शून्य प्रधान (जड़ प्रकृति) जगत् का कारण नहीं है।

व्याख्या—उपनिषदों में सृष्टि रचना के प्रसंग में 'ईक्षण' शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् उस सत् ने ईक्षण-संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊं। छांदोग्य उपनिषद् में कहा है, 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेत' (६/२/३)। चूंकि प्रकृति जड़ है जिससे उसमें संकल्प नहीं हो सकता। संकल्प चेतन से ही संभव है। इसलिए जड़ प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण नहीं माना

जा सकता। उस ब्रह्म में ही सृष्टि रचना की समस्त शक्तियाँ निहित थीं जिनका प्रकटीकरण संकल्प से हुआ जिससे इस जड़ चेतनमय सृष्टि का निर्माण हुआ। प्रकृति नाम का ब्रह्म से भिन्न कोई तत्व नहीं था जिसका उपयोग करके ब्रह्म ने सृष्टि रचना का कार्य किया हो। यह प्रकृति भी उसी की शक्ति है ऐसा भाव है। ऐतरेयोपनिषद् १/१/१ में उल्लेख है, 'यह जगत् प्रकट होने से पहले एक मात्र आत्मा (परमात्मा, ब्रह्म) ही था, उसके सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था। उसने निश्चय ही 'लोकों की रचना करूँ' इस प्रकार विचार किया। इस प्रकार सृष्टि का कारण एक मात्र ब्रह्म ही है, अन्य कोई नहीं।

सूत्र—६. 'गौणश्चेत्रात्मशब्दात्'

भावार्थ—**यदि यह कहो कि ईक्षण का प्रयोग गौण वृत्ति से प्रकृति के लिए हुआ है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ 'आत्म' शब्द का प्रयोग है।**

व्याख्या— ऊपर यह बताया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में एक ही परमात्म तत्व (ब्रह्म) था। दूसरा कोई था ही नहीं, फिर उस ब्रह्म से भिन्न, प्रकृति तत्व की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है। अतः प्रकृति जैसी कोई गौण वृत्ति थी ही नहीं। वही एक ब्रह्म तत्व सर्व व्याप्त था। इसलिए सृष्टि की उत्पत्ति का एक मात्र वही कारण है तथा यह सृष्टि उसी का कार्य है, वही एक अनेक रूपों में अभिव्यक्त होकर सृष्टि का रूप लेता है। इस प्रकार सृष्टि का कारण प्रकृति को मानना उचित नहीं है।

सूत्र—७. 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशातु'

भावार्थ—उसमें (परब्रह्म में) स्थित होने वाले व्यक्ति की मुक्ति बतलाई गई है, इसलिए प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता।

व्याख्या—वेदों का सार ही उपनिषद् हैं जिनमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'उस ब्रह्म ने स्वयं ही अपने आप को जड़-चेतनात्मक जगत् के रूप में प्रकट किया' (तदात्मानं स्वयमकुरुत) (तैत्तिरीयोपनिषद्), तथा जो जीवात्मा उस परब्रह्म में अविचल भाव से स्थित हो जाता है तो वही उसकी मुक्ति है। कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि प्रकृति में स्थित होने से मुक्ति होती है। जो सृष्टि का आरम्भ है वही अन्त है क्योंकि सृष्टि की गति वर्तुलाकार है। जहाँ से आरम्भ हुआ वहीं पुनः पहुंच जाना मुक्ति है। अन्य स्थानों अथवा लोकों में पहुँचना मुक्ति नहीं है। इसलिए प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता। सृष्टि का निर्माण एवं विस्तार चेतन से ही होता है। जड़ से संभव नहीं है। विज्ञान भी जड़त्व के नियम में यही कहता है कि जड़ को जिस स्थिति में रखा जायेगा वह अनन्त काल तक उसी स्थिति में रहेगा जब तक अन्य कोई बाधा उसमें न आये। इसलिए प्रकृति स्वयं विकास नहीं कर सकती, एक से दो और दो से हजार होने की प्रक्रिया चेतन द्वारा ही होती है। जड़ द्वारा नहीं जड़ टूटकर विभाजित एवं पुनः संगठित हो सकता है किन्तु वह विस्तार को प्राप्त नहीं हो सकता। चेतन शक्ति ही विस्तार को प्राप्त होती है।

सूत्र—८. 'हेयत्वावचनाच्च।'

भावार्थ—त्यागने योग्य नहीं बताये जाने के कारण भी 'आत्मा' शब्द प्रकृति का वाचक नहीं हैं।

व्याख्या—शास्त्रों में 'आत्मा' शब्द उस चेतन ब्रह्म का ही वाचक है 'प्रकृति' का नहीं। क्योंकि प्रकृति जड़ है जिसका चेतन के साथ संयोग होने पर सृष्टि रचना होती है तथा पुनः प्रकृति के त्याग से ही उस परब्रह्म की उपलब्धि होती है जिसे 'मोक्ष' 'कैवल्य' आदि कहा गया है। जब तक प्रकृति का त्याग नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं होता। पतंजलि ने कहा है—

'पुरुषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना 'कैवल्य' है अथवा यों कहिये कि चित्त शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना 'कैवल्य' है।' (योग दर्शन ४/३४)।

यह चित्त शक्ति चेतन स्वरूपा है तथा तीन गुणों से युक्त प्रकृति जड़ है। जब ये तीनों गुण पुरुषार्थ हीन (क्रियाहीन) हो जाते हैं तो प्रकृति अपना कार्य नहीं कर सकती जिससे वह अपने कारण में विलीन हो जाती है तथा वह चेतन शक्ति (चित्त शक्ति) अपने निज स्वरूप, ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाती है, इसी को 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' कहा गया है। इस प्रकार यह प्रकृति त्यागने योग्य है जो जड़ है। इसलिए आत्मा प्रकृति का वाचक नहीं है क्योंकि वही निज स्वरूप है जिसका त्याग संभव ही नहीं है। इसलिए वह आत्मा (ब्रह्म) ही जगत् का कारण है। उसी में निष्ठा का सर्वत्र उपदेश किया गया है। उसके त्याग का नहीं।

सूत्र ९—"स्वाप्ययात्।"

भावार्थ : अपने में विलीन होना बतलाया गया है इसलिए 'सत्' शब्द भी प्रकृति का वाचक नहीं हो सकता।

व्याख्या—शास्त्रों में उस परब्रह्म को सत् चित्त व आनन्द स्वरूप बताया गया है। सत् वह है जो नित्य है, शाश्वत है।

अनित्य एवं क्षण भंगुर को सत् नहीं कहा जा सकता। गीता में कहा है—

"असत् का तो अस्तित्व ही नहीं है और सत् का अभाव नहीं है।"
—गीता २/१६

इस प्रकार जो भी विनाशशील है वह असत् है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता तथा सत् का कभी अभाव नहीं होता क्योंकि वह नित्य है। चूँकि प्रकृति अनित्य है, शाश्वत नहीं है। सत् के ज्ञान के अभाव में ही वह नित्य जैसी प्रतीत होती है। यही भ्रम बन्धन का कारण है। जब सत् का ज्ञान हो जाता है तो यह विनाशशील प्रकृति अपने कारण में विलीन हो जाती है जिससे वह सत्य मात्र ही शेष रह जाता है। वही उस परब्रह्म का स्वरूप है। यदि प्रकृति सत् होती तो वह विलीन नहीं होती। इस प्रकार शास्त्रों के प्रमाणों से 'सत्' शब्द उस परब्रह्म का ही वाचक है, जड़ प्रकृति का नहीं। प्रकृति के विलीन होने पर जीवात्मा अपने ही सत्-स्वरूप पर-ब्रह्म में तद्रूप हो जाता है। दोनों की भिन्नता की प्रतीति ही समाप्त हो जाती है यही उसका ब्रह्म में विलीन होना है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता का अभिमान खोकर ब्रह्म के साथ एक रूपता का अनुभव करता है जो सत् तत्व है। चूँकि अन्त में वही शेष रहता है इसलिए सृष्टि की उत्पत्ति का भी वही कारण है। अनित्य प्रकृति कारण नहीं हो सकती।

सूत्र १०—"गतिसामान्यात् ।"

भावार्थ : सभी उपनिषद् वाक्यों की गति सामान्य रूप से चेतन परब्रह्म को ही जगत् का कारण बताने में हैं। इसलिए प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता।

व्याख्या—उपनिषदों में वेदों की ही व्याख्या है जिनमें सामान्य रूपसे उस चेतन परब्रह्म को ही जगत् का कारण बताया गया है। वेदों के प्रमाण के कारण प्रकृति को जगत् का कारण मानना उचित नहीं है तथा तर्क संगत भी प्रतीत नहीं होता। मुण्डक उपनिषद् (२/१/३) में कहा गया है 'इस परमेश्वर से प्राण उत्पन्न होता है, तथा मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वी ये सब उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकार शास्त्र प्रमाणों से जगत् की उत्पत्ति का कारण परब्रह्म ही सिद्ध होता है, प्रकृति नहीं।

सूत्र ११—"श्रुतत्वाच्च।"

भावार्थ : श्रुतियों द्वारा जगह-जगह यही बात कही गई है, इसलिए भी परब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/९) में कहा गया है, 'जगत् में कोई भी उसका स्वामी नहीं है, उसका शासक भी नहीं है। वह सबका परम कारण है तथा समस्त कारणों के अधिष्ठाताओं का भी अधिपति है। कोई भी न तो उसका जनक है और न स्वामी ही है।' इसी उपनिषद् (६/१६) में कहा गया है, 'वह ज्ञान स्वरूप परमात्मा समस्त विश्व का सृष्टा है, प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी है। इस प्रकार सभी उपनिषदों में यही बात कही गई है कि वह परब्रह्म ही जगत् का कारण है, प्रकृति नहीं। इसलिए इन श्रुतियों को प्रमाण मानते हुए इस परब्रह्म को ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण मानना उचित है। वह सभी कारणों का कारण है।

सूत्र १२—"आनन्दमयोऽभ्यासात्।"

भावार्थ : श्रुति में बार-बार 'आनन्द' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिए हुआ है इसलिए 'आनन्दमय' शब्द पर-ब्रह्म का ही वाचक है।

व्याख्या—अभ्यास का अर्थ है बार-बार दोहराना। श्रुतियों में बार-बार यही बात कही गई है कि वह परब्रह्म 'आनन्दमय' है। ब्रह्म के स्थान पर 'आनन्द' शब्द का ही प्रयोग हुआ है जिससे सृष्टि की रचना होती है। यह आनन्द शब्द प्रकृति अथवा जीवात्मा के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसलिए भी सृष्टि का कारण ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। तैत्तिरीय उपनिषद् (३/६) में कहा गया है, 'आनन्द ही ब्रह्म है, आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द में ही जीते हैं तथा अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ठ होते हैं।' यही आनन्द परब्रह्म है जो जगत् का कारण है। जड़ प्रकृति जगत् का कारण है यह कहीं सिद्ध नहीं होता।

सूत्र १३—**"विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्।"**

भावार्थ : यदि कहो कि 'आनन्दमय' में 'मय' (मयट्) प्रत्यय विकार का बोधक होने से आनन्दमय शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं हो सकता तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि मयट् (मय) प्रत्यय यहाँ प्रचुरता का बोधक है (विकार का नहीं)।

व्याख्या—इस सूत्र में मयट् प्रत्यय से हुई इस भ्रान्ति का निराकरण किया गया है कि यह किसी विजातीय तत्व का सूचक नहीं है बल्कि प्रचुरता का बोधक है कि वह परब्रह्म आनन्दघन है।

सूत्र १४—"तद्धेतुव्यपदेशाच्च।"

भावार्थ : उपनिषदों में ब्रह्म को उस आनन्द का हेतु बताया गया है इसलिए भी यहाँ मयट् प्रत्यय विकार अर्थ का बोधक नहीं है।

व्याख्या—इस सूत्र में भी उपनिषदों का प्रमाण देकर यह बताया गया है कि 'मय' शब्द विकार का बोधक नहीं है, अपितु वह ब्रह्म सबको आनन्द प्रदान करने वाला होने से उसे आनन्दमय कहा गया है। वह अखण्ड आनन्द का भण्डार है। अतः यह प्रचुरता का बोधक है।

सूत्र १५—"मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते।"

भावार्थ—तथा मन्त्राक्षरों में जिसका वर्णन किया गया है, उस ब्रह्म का ही यहाँ प्रतिपादन किया जाता है।

व्याख्या—ब्रह्म आनन्दमय है। उसमें कहीं दुःख है ही नहीं। समस्त दुःख उसकी अज्ञानता के कारण है, उसको तत्व रूप से नहीं जानने के कारण है। ब्रह्म के ज्ञान के अभाव में प्रकृति को ही सत्य एवं नित्य मानकर भोगासक्त हो उसी में रमण करना ही सभी दुःखों का कारण है। जो उस परब्रह्म को जान लेता है वह सम्पूर्ण दुःखों से मुक्त होकर आनन्द में स्थित हो जाता है। यदि ब्रह्म आनन्दमय नहीं है तो उसे प्राप्त करने की चेष्टा कौन करता? विभिन्न शास्त्रों में उसके स्वरूप का वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१/१) में कहा गया है, 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनन्त है)। यही मन्त्राक्षर हैं जिसमें ब्रह्म का वर्णन किया गया है। इसी ब्रह्म को ब्राह्मण ग्रन्थों में 'आनन्दमय' कहा गया है। यह सृष्टि आनन्द से ही उत्पन्न होती है, आनन्द में ही स्थित है तथा

आनन्द में ही विलीन हो जाती है। आनन्द का अर्थ प्रसार भी है। जो निरन्तर विकास को प्राप्त होता जाय, जिसकी निरन्तर वृद्धि होती जाय। उसे भी 'आनन्द' कहते हैं। इस प्रकार सभी मन्त्राक्षरों में आनन्दमय शब्द ब्रह्म का ही वाचक है अन्य किसी का नहीं।

सूत्र १६—"नेतरोऽनुपपत्तेः।"

भावार्थ : ब्रह्म से भिन्न जो जीवात्मा है वह आनन्दमय नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्वापर के वर्णन से यह बात सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—सूत्र १२ में स्पष्ट किया गया है कि इस सृष्टि की रचना आनन्द से ही हुई है, यह आनन्द में ही स्थित है तथा अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ठ होती है। आनन्द ही ब्रह्म है।" (तेत्तिरीय उपनिषद् ३/६) इसी प्रकार इसी उपनिषद् में (२/६) में कहा है, 'उसने विचार किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। उसने तप (संकल्प) करके समस्त जगत् की रचना की तथा वह उसी में प्रविष्ठ हो गया।" इससे यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म ही आनन्दमय है जिसने सृष्टि की रचना की। यह जीवात्मा का सूचक नहीं है क्योंकि जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं, अल्पज्ञ है तथा सीमित है, बन्धन में है। उसकी शक्तियाँ सीमित हैं जिससे वह सृष्टि की रचना नहीं कर सकता। अतः आनन्दमय शब्द 'ब्रह्म का ही वाचक है, जीवात्मा का नहीं।

सूत्र १७—"भेदव्यपदेशाच्च।"

भावार्थ : जीवात्मा और परमात्मा को एक दूसरे से भिन्न बतलाया गया है। इसलिए भी (आनन्दमय शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं हो सकता)।

व्याख्या—जीवात्मा और परमात्मा में भेद है। जीवात्मा एकदेशीय है, परमात्मा सर्वव्यापी है। जीवात्माएं अनेक हैं, परमात्मा एक है। जीवात्मा राग, द्वेष, पुरुषार्थ, सुख-दुःख, जानना आदि गुणों वाली है, परमात्मा इनसे परे इसका साक्षी मात्र है। प्राण, अपान, निर्मल, उन्मेष, जीवन, मन, गति, इन्द्रिय आत्मा के लिंग अर्थात् कर्म और गुण है। जीव व्याप्य है, ईश्वर व्यापक है। जैसे शरीर में जीवात्मा रहती है व जीवात्मा में परमेश्वर व्यापक है। वह जीवात्मा से भिन्न रह कर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होता है। जीवात्मा भोग एवं उनके फल का भोक्ता होता है, परमात्मा दृष्टा मात्र होता है। परमात्मा शरीर में जीव को प्रवेश कराकर स्वयं जीव के भीतर अनुप्रविष्ठ हो जाता है। जीवों के कर्तव्य अकर्तव्य कर्म ईश्वर नहीं करता, जीव ही करता है। इस प्रकार आनन्दमय शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं हो सकता वह परब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र १८—"कामाच्च नानुमानापेक्षा।"

भावार्थ : तथा 'आनन्दमय' में कामना का कथन होने से यहां कल्पित जड़ प्रकृति को 'आनन्दमय' शब्द से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/६) के अनुसार "उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ।' इस प्रकार आनन्दमय परब्रह्म में ही सृष्टि कामना का होना बताया गया है। कामना करना चैतन्य से ही संभव है। जड़ प्रकृति कामना नहीं कर सकती। इसलिए 'आनन्दमय' शब्द प्रकृति का वाचक नहीं हो सकता। वह उस चैतन्य परब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र १९—"अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।"

भावार्थ : इसके सिवा इस प्रकरण में इस जीवात्मा का उस आनन्दमय से संयुक्त होना (मिल जाना) बतलाती है, इसलिए जड़ प्रकृति या जीवात्मा आनन्दमय नहीं है।

व्याख्या—यह जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है यह पहले बताया गया है। इस भिन्नता का कारण उसकी अहंता, ममता तथा आसक्ति है जिसके कारण वह परब्रह्म को भूलकर प्रकृति के भोगों की ओर आकर्षित होती एवं उसके फल भोगती है। किन्तु जब उसका भोगों से वैराग्य हो जाता है तो वह प्रकृति से अलग होकर पुनः उस परब्रह्म में लीन हो जाती है। इसी को 'योग' कहा जाता है। जब तक यह जीवात्मा प्रकृति से संयुक्त रहती है तब तक उसके जन्म-मृत्यु व दुःखों का अन्त नहीं होता किन्तु जब वह परमात्मा से संयुक्त हो जाती है तो वह परमानन्द का अनुभव करती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह प्रकृति और जीवात्मा आनन्दमय नहीं है बल्कि वह परमात्मा ही आनन्दमय है जिसमें यह अपने प्रकृति के विकारों को छोड़कर संयुक्त होती है। वही उसका परमपद है अतः वह परमात्मा ही आनन्दमय है, अन्य कोई नहीं।

सूत्र २०—"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्।"

भावार्थ : हृदय के भीतर शयन करने वाला विज्ञानमय तथा सूर्य मण्डल के भीतर स्थित हिरण्यमय पुरुष ब्रह्म है, क्योंकि उसमें ब्रह्म के धर्मों का ही उपदेश किया गया है।

व्याख्या—बृहदारण्य का छांदोग्य आदि उपनिषदों में हृदय के भीतर स्थित विज्ञानमय पुरुष के, तथा सूर्यमण्डल के भीतर

स्थित जिस हिरण्यमय पुरुष के लिए जिन विशेषणों का वर्णन किया गया है वे विशेषण ब्रह्म में ही संभव है। ये अन्य किसी जीवात्मा के धर्म नहीं हो सकते। इसलिए उस विज्ञानमय तथा पुरुष को ही ब्रह्म समझना चाहिए, अन्य किसी को नहीं।

सूत्र २१—"भेदव्यपदेशाच्चान्य:"

भावार्थ : तथा भेद का कथन होने से सूर्य मण्डलान्तवर्ती हिरण्यमय पुरुष सूर्य के अधिष्ठाता देवता से भिन्न है।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख है कि 'वह सूर्य का अर्न्तवर्ती है जिसे सूर्य नहीं जानता। सूर्य भी उसका शरीर है। वही सूर्य के भीतर रहकर उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।' इस प्रकार जो समस्त सृष्टि का नियमन करने वाला है, जो सूर्य, शरीर आदि में स्थित है वह ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई देवता अथवा जीवात्मा नहीं हो सकता क्योंकि वही एकमात्र परब्रह्म समस्त सृष्टि का कर्ता, नियमन करने वाला है। इसलिए वह उस ब्रह्म का ही वाचक है। सूर्य का अधिष्ठाता देवता से वह भिन्न है।

सूत्र २२ —"आकाशस्तल्लिगात्।"

भावार्थ—'वहाँ 'आकाश' शब्द परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है, क्योंकि जो लक्षण बताये गये हैं, वे उस ब्रह्म के ही हैं।

व्याख्या—उपनिषदों में वर्णन है कि 'ये समस्त भूत नि:-सन्देह आकाश से ही उत्पन्न हुए हैं और आकाश में ही विलीन होते हैं। आकाश ही इन सबसे श्रेष्ठ और बड़ा है। वही इन सबका परम आधार है' (छांदोग्य उप० १/६/१) शास्त्रों में

आकाश के तीन रूप बताये हैं। एक भूताकाश है, दूसरा चित्ताकाश है तथा तीसरा चिदाकाश है। यह चिदाकाश ही ब्रह्म है जो समस्त सृष्टि का कारण है। वही सबसे श्रेष्ठ और बड़ा है जिसके भीतर यह समस्त ब्रह्माण्ड समाया हुआ है तथा अन्त में उसी में विलीन हो जाता है। सभी उसी के आधार पर स्थित है। ये सब कार्य उसी ब्रह्म के हैं अतः यह 'आकाश' शब्द उसी ब्रह्म का वाचक है। जीवात्मा तथा प्रकृति इसका वाचक नहीं है।

सूत्र २३—"अत एव प्राणः।"

भावार्थ : इसलिए प्राण भी ब्रह्म ही है।

व्याख्या—छांदोग्य उपनिषद् (१/११/५) में कहा गया है, 'निश्चय ही ये सब भूत प्राण में ही विलीन होते हैं और प्राणों से ही उत्पन्न होते हैं।' यहाँ भी 'प्राण' का अर्थ इस प्राणवायु से नहीं है क्योंकि प्राणवायु से सृष्टि की रचना नहीं हो सकती न इसमें विलीन ही होती है। यह प्राणतत्व उस ब्रह्म की ही शक्ति है जिससे सृष्टि में क्रिया एवं हलचल होती है। किन्तु अकेला प्राण सृष्टि की रचना नहीं कर सकता। इसलिए यहाँ प्राण उस 'ब्रह्म' का ही वाचक है।

सूत्र २४—"ज्योतिश्चरणाभिधानात्।"

भावार्थ : उक्त ज्योति के चार पादों का कथन होने से 'ज्योति' शब्द वहाँ ब्रह्म का वाचक है।'

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (३/१२/६) में उल्लेख है कि 'उस ज्योतिर्मय ब्रह्म के चार पाद हैं तथा यह समस्त भूत समुदाय उसका एक पाद है। शेष तीन पाद अमृत स्वरूप तथा परम धाम में स्थित हैं।' इसी उपनिषद् में (३/१३/७) में

उल्लेख है कि 'इस स्वर्गलोक से ऊपर परम ज्योति प्रकाशित हो रही है, वह उस सर्वोत्तम परमधाम में प्रकाशित हो रही है वह निःसन्देह यही है जो कि इस पुरुष में आन्तरिक ज्योति है।' इनमें 'ज्योति' शब्द उस ब्रह्म का ही वाचक है, जीवात्मा तथा प्रकृति का नहीं। इसी ब्रह्म के लिए 'ज्योतिषां ज्योति' कहा गया है कि वह समस्त ज्योतिर्मय पदार्थों की ज्योति है। इस प्रकार ज्योति शब्द उस 'ब्रह्म' का ही वाचक है यह सिद्ध होता है।

सूत्र २५—'छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथाहि दर्शनम् ।"

भावार्थ—यदि कहो गायत्री छन्द का कथन होने के कारण उसी के चार पादों का वर्णन है, ब्रह्म के चार पादों का वर्णन नहीं है। तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उस प्रकार के वर्णन द्वारा ब्रह्म में चित्त का समर्पण बताया गया है वैसा ही वर्णन दूसरी जगह भी देखा गया है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (३/१२/१) में गायत्री छन्द का वर्णन है। गायत्री के भी चार पाद माने गये हैं। इस प्रकार यह शंका होती है कि सूत्र २४ में जिन चार पादों का वर्णन आया है वह ब्रह्म का नहीं गायत्री छंद का ही वाचक है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। इसका कारण है कि ब्रह्म की ज्ञान शक्ति को ही 'गायत्री' कहा गया है तथा उसकी क्रिया शक्ति को 'सावित्री' कहा गया है। जड़ चेतनमय सृष्टि में ज्ञान एवं क्रिया दोनों की अनिवार्यता है तथा ब्रह्म में ही दोनों शक्तियाँ निहित हैं। इसलिए यहाँ चार पादों में उस ब्रह्म का ही वर्णन

है गायत्री का नहीं, क्योंकि चित्त का समर्पण ब्रह्म में ही होता है। इसलिए यह ब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र २६—"भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्।"

भावार्थ : भूत आदि को पाद बतलाना युक्तिसंगत हो सकता है, इसलिए भी ऐसा ही है।

व्याख्या—इसी उपनिषद् में गायत्री को भूत, पृथ्वी, शरीर और हृदय रूप चार पादों से युक्त बताया गया है तथा उसकी एकता ब्रह्म के साथ स्थापित की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि इसमें गायत्री शब्द 'ब्रह्म' का ही वाचक है, गायत्री छन्द का नहीं। ये समस्त भूत गायत्री छन्द का एक पाद नहीं है बल्कि उस ब्रह्म का ही एक पाद है।

सूत्र २७—"उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्।"

भावार्थ—यदि कहो कि उपदेश में भिन्नता होने से गायत्री शब्द 'ब्रह्म' का वाचक नहीं है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि दो प्रकार का वर्णन होने पर भी कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—गायत्री को ब्रह्म मानने में एक शंका यह की जाती है कि पूर्व सूत्र में ज्योतिर्मय ब्रह्म के चार पाद बताये गये हैं जिनमें तीन पाद दिव्य लोक में हैं। साथ ही ज्योति स्वरूप ब्रह्म को दिव्य लोक से परे बताया गया है। इस प्रकार इन दोनों उपदेशों में भिन्नता होने के कारण 'गायत्री' शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं हो सकता। किन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि ज्योति एवं गायत्री शब्द दोनों से ही उसी ब्रह्म का बोध कराया गया है। वर्णन की शैली की भिन्नता से तथ्य में कोई अन्तर नहीं आता। दोनों का अर्थ उसी ब्रह्म से ही है।

सूत्र २८—"प्राणस्तथानुगमात् ।"

भावार्थ—'प्राण' शब्द यहाँ भी ब्रह्म का ही वाचक है क्योंकि पूर्वापर के प्रसंग पर विचार करने से ऐसा ही ज्ञात होता है ।

व्याख्या—सूत्र २३ में 'प्राण' शब्द को भी ब्रह्म का ही वाचक बताया गया है अन्य किसी का नहीं । प्राण को कहीं प्रज्ञान स्वरूप बताया गया है, कहीं आनन्द स्वरूप बताया गया है, कहीं उसे अजर, अमर कहा गया है, कहीं उसे समस्त लोकों का पालक, अधिपति और सर्वेश्वर बताया गया है । ये सब ब्रह्म के ही सूचक हैं, प्राणवायु, जीवात्मा आदि के लिए उपयुक्त नहीं है ।

इस प्रकार जहाँ-जहाँ आनन्दमय, विज्ञानमय, हिरण्यमय, पुरुष, आकाश, प्राण, ज्योति, गायत्री आदि शब्दों से जिसकी व्याख्या की गई है वह उस 'परब्रह्म' की ही व्याख्या है । ये सब उसी की शक्तियाँ हैं तथा उसी परब्रह्म की विभूतियाँ हैं जो उससे भिन्न नहीं हैं । इस प्रकार शक्ति का वर्णन शक्तिमान का ही वर्णन होता है । शक्ति से ही शक्तिमान को जाना जा सकता है । उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना संभव नहीं है । यदि उसकी ये शक्तियाँ प्रकट ही नहीं होतीं तो उसे किसी भी प्रकार नहीं जाना जा सकता था । ज्ञाता और ज्ञेय होने पर ही ज्ञान प्रकट होता है । इसलिए ये सभी शब्द उस ब्रह्म का ही बोध कराते हैं ।

सूत्र २९—'न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ।"

भावार्थ—यदि कहो वक्ता (इन्द्र) का उद्देश्य अपने को ही

'प्राण' नाम से बतलाना है, इसलिए 'प्राण' शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं हो सकता, तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्धी उपदेश की बहुलता है।

व्याख्या—कौषीतकि उपनिषद् (३/२) में इन्द्र कहते हैं, मैं ज्ञान स्वरूप प्राण हूं, तू आयु तथा अमृतरूप से मेरी उपासना कर।' इस कथन से यह शंका होती है कि 'प्राण' शब्द इन्द्र का वाचक है, ब्रह्म का नहीं। किन्तु यह शंका भी उचित नहीं है क्योंकि इन्द्र भी उसी ब्रह्म का ही रूप है, उससे भिन्न शक्ति नहीं है इसलिए उसके विशेषण ब्रह्म के ही विशेषण हैं। इसी कारण 'प्राण' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है। इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्धी ज्ञान का ही उपदेश है जिसका अर्थ ब्रह्मज्ञान से है। अतः यह 'इन्द्र' का वाचक नहीं 'ब्रह्म' का ही वाचक है। उसी की उपासना के लिए कहा गया है। भगवान कृष्ण ने भी गीता में बार-बार 'मैं' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ उस परब्रह्म से ही है।

सूत्र ३०—"शास्त्रदृष्टया तूपदेशो वामदेववत्।"

भावार्थ : यहां इन्द्र का अपने को प्राण बतलाना तो वामदेव की भाँति केवल शास्त्र दृष्टि से है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/१/१-२) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४/१६-७) में लिखा है कि 'इस शरीर रूपी वृक्ष पर जीवात्मा तथा परमात्मा रूपी दो पक्षी निवास करते हैं जिनमें जीवात्मा रूपी पक्षी इस शरीर रूपी वृक्ष के फलों को खाता है (भोक्ता है) तथा परमात्मा रूपी पक्षी उस जीवात्मा को देखता मात्र है (दृष्टा है)। जब वह जीवात्मा उस परमात्मा को देख

लेता है तो वह अपने जीवत्व भाव का त्याग करके ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।' इसी प्रकार जो-जो आत्मभाव को उपलब्ध हो जाते हैं वे ब्रह्म स्वरूप ही हो जाते हैं। फिर वे सामान्य मनुष्य तथा जीवात्मा नहीं रहते। इसी अर्थ में ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए ऋषि वामदेव कहते हैं, 'मैं मनु हुआ, मैं ही सूर्य हुआ।' यहाँ इसका अर्थ परब्रह्म से ही है। इसी प्रकार इन्द्र ने भी अपने को प्राण बतलाया जिसका अर्थ है वह परब्रह्म ही प्राण है। जब आत्मज्ञानी की उस परब्रह्म परमात्मा में स्थिति हो जाती है तो समस्त भेदों की समाप्ति होकर सम्पूर्ण सृष्टि में एकता का अनुभव करता हुआ उसे तथा स्वयं को परब्रह्म ही मानकर व्याख्या देते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् (१/४/१०) में उल्लेख है कि जिन देवताओं ने उस परब्रह्म को जाना वे ब्रह्मरूप ही हो गये। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में भी जिसने उसे जाना वह तद्रूप हो गया। इसलिए इन्द्र का इस प्रकार के कथन का शास्त्र दृष्टि से उस परब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र ३१—"जीवमुख्य प्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्।"

भावार्थ—यदि कहो, इस प्रसंग के वर्णन में जीवात्मा तथा प्रसिद्ध प्राण के लक्षण पाये जाते हैं, इसलिए प्राण शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर त्रिविध उपासना का प्रसंग उपस्थित होगा। इसके सिवा सब लक्षण ब्रह्म के आश्रित हैं तथा इस प्रसंग में ब्रह्म के लक्षणों का ही कथन है इसलिए यहाँ 'प्राण' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

व्याख्या शरीर को धारण करना मुख्य प्राण का ही धर्म है किन्तु जीव एवं प्राण आदि धर्मों का आश्रय भी ब्रह्म ही है। इसलिए 'प्राण' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है। ये सभी लक्षण ब्रह्म के ही हैं, प्राण के नहीं। जीव और प्राण को उपास्य भी नहीं माना जा सकता। यदि दोनों को और उपास्य माना जाय तो त्रिविध उपासना (प्राण, जीव एवं ब्रह्म तीनों की उपासना) का प्रश्न पैदा होता है जब कि उस एक ब्रह्म की ही उपासना का शास्त्रों में वर्णन है। इस प्रकार इन्द्र, जीवात्मा, प्राण आदि का अर्थ वही परब्रह्म ही है।

॥ पहला पाद सम्पूर्ण ॥

१. पहला अध्याय

२. दूसरा पाद

सूत्र १—"सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।"

भावार्थ—सम्पूर्ण वेदांत वाक्यों में प्रसिद्ध परब्रह्म का ही उपदेश हुआ है ।

व्याख्या— वेदान्त शास्त्रों में सर्वत्र उसी परब्रह्म का उपदेश हुआ है जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है। प्रथम पाद के ३१वें सूत्र में जिस उपास्य देव का वर्णन है वह वही परब्रह्म है जिसकी उपासना का ही सर्वत्र वर्णन है। अन्य की उपासना का वेदान्त में निषेध है। छान्दोग्य उपनिषद् में सर्वत्र उसी परब्रह्म की उपासना के लिए कहा गया है। इसकी श्रुति (३/१४) में कहा है, 'यह सम्पूर्ण चराचर जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, क्योंकि यह उसी से उत्पन्न हुआ है, स्थिति के समय उसी में चेष्टा करता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है। साधक को राग-द्वेष रहित शान्तचित्त होकर इस प्रकार उपासना करनी चाहिए।' अतः उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है दूसरा (जीवात्मा, प्रकृति, प्राण आदि) कोई नहीं।

सूत्र २—"विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।"

भावार्थ—तथा श्रुति द्वारा वर्णित गुणों की संगति उस परब्रह्म में ही होती है, इसलिए (उपास्यदेव ब्रह्म ही है)।

व्याख्या—छान्दोग्य तथा केनोपनिषद् आदि में परब्रह्म को मन का भी मन तथा प्राण का भी प्राण बताया गया है अन्य श्रुतियों में भी उसी को सबका कर्ता, नियंता आदि बताया गया है तथा उसे सत्य संकल्प, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वरस, समस्त जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला बताया गया है इन सब गुणों की संगति उस परब्रह्म से ही होती है। उपास्य-देव के ये ही उपादेय गुण हैं। इसलिए वह उपास्यदेव परब्रह्म ही है। ये गुण जीवात्मा के नहीं होने से जीवात्मा उपास्यदेव नहीं है।

सूत्र ३—"अनुपपत्तेस्तु न शरीरः।"

भावार्थ—परन्तु जीवात्मा में श्रुति वर्णित गुणों की संगति न होने के कारण जीवात्मा इस प्रकरण में कहा हुआ उपास्यदेव नहीं है।

व्याख्या—श्रुति में उस परब्रह्म को सर्वव्यापक, सर्व शक्ति-मान, सर्वात्मिक, सत्य संकल्प आदि से व्यक्त किया गया है। ये गुण जीवात्मा के नहीं हैं। इसलिए जीवात्मा को उपास्यदेव नहीं माना जा सकता।

सूत्र ४—"कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च।"

भावार्थ—उक्त प्रकरण में उपास्यदेव को प्राप्ति क्रिया का कर्म अर्थात प्राप्त होने योग्य कहा गया है और जीवात्मा को प्राप्ति क्रिया का कर्ता अर्थात् उस परब्रह्म को प्राप्त करने वाला बताया है। इस-लिए भी जीवात्मा उपास्य नहीं हो सकता।

व्याख्या—जीवात्मा उपासक है तथा वह परब्रह्म ही उपास्य है। ज्ञान प्राप्ति पर वह जीवात्मा ही उसके दर्शन करके

मुक्त होता है। जीवात्मा के कर्म फलों का विधान भी उसी परम शक्ति द्वारा किया गया है। जीवात्मा कर्म बन्धन में है जिससे मुक्ति के लिए वह उस परब्रह्म की शरण लेता है। इसलिए जीवात्मा स्वयं उस परब्रह्म का उपासक है तथा उपास्यदेव वही परब्रह्म है।

सूत्र ५—"शब्दविशेषात् ।"

भावार्थ—शब्द भेद होने के कारण भी उपास्यदेव जीवात्मा नहीं है।

व्याख्या 'मैं', 'मेरा' आदि शब्द जीवात्मा का ही बोध कराते हैं तथा 'आत्मा' शब्द परब्रह्म के लिए प्रयुक्त होता है जो हृदय के भीतर रहने वाला अन्तर्यामी है। वह दृष्टा एवं साक्षी रूप है तथा जीवात्मा कर्ता एवं भोक्ता है। ये दोनों भिन्न होने से शब्दों में भेद है। इसलिए जीवात्मा उपासक है एवं आत्मा (ब्रह्म) ही उपास्य है। आत्म पूजा उपनिषद् में भी उस आत्मा की ही उपासना का निर्देश दिया गया है। इसलिए वह परब्रह्म ही उपास्यदेव है।

सूत्र ६ – "स्मृतेश्च ।"

भावार्थ—स्मृति प्रमाण से भी उपास्य और उपासक का भेद सिद्ध होता है।

व्याख्या—ऊपर श्रुति प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि उपास्य और उपासक भिन्न होने से परब्रह्म उपास्य है तथा जीवात्मा उपासक है। यहाँ स्मृतियों में दिये गये प्रमाणों के आधार पर भी कहा गया है कि स्मृतियाँ भी उसी परब्रह्म को उपास्य तथा जीवात्मा को उपासक सिद्ध करती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है--'तू मुझमें ही

मन को लगा और मुझमें ही बुद्धि को लगा, इसके उपरान्त तू मेरे में ही निवास करेगा अर्थात मेरे को ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (गीता १२/८) तथा 'जो पुरुष अन्त काल में मेरे को ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। (गीता ८/५) इस प्रकार स्मृति प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म ही उपास्यदेव है, जीवात्मा नहीं।

सूत्र ७—"अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च।"

भावार्थ : यदि कहो उपास्यदेव हृदयरूप छोटे स्थान वाला है इसलिए, तथा उसे अत्यन्त छोटा बताया गया है इस कारण वह ब्रह्म नहीं हो सकता, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वह हृदय देशमें दृष्टव्य है इसलिए उसके विषय में ऐसा कहा गया है तथा वह आकाश की भांति सर्वत्र व्यापक है।

व्याख्या—उस उपास्यदेव का स्थान हृदय बताया गया है कि वह हृदयरूपी गुहा के भी भीतर स्थित है तथा उसका आकार भी अति सूक्ष्म बताया गया है तथा दूसरी ओर उसे सर्वव्यापक, सबसे बड़ा, तथा सर्व शक्तिमान बताया गया है। इस आधार पर यह शंका होती है कि हृदय में स्थित वह आत्मरूप परब्रह्म परमेश्वर नहीं हो सकता क्योंकि वह एक देशीय हो गया है किन्तु यह शंका भी उचित नहीं है क्योंकि वही सर्वव्याप्त है। शरीर में उपलब्धि स्थान की अपेक्षा से उसे हृदय में स्थित बताया गया है अन्यथा वह सर्वत्र व्याप्त है जिससे मनुष्य शरीर में भी वही है। ईशावास्योपनिषद् सूत्र ५ में

उल्लेख है, 'वे इस समस्त जगत् के भीतर परिपूर्ण है और वे इस समस्त जगत् के बाहर भी है।' (गीता १३/१५) में लिखा है, 'वह परमात्मा, चराचर सब भूतों के बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर अचररूप भी वही है।' इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त है किन्तु उसे हृदय प्रदेश में ही देखा जा सकता है अन्यत्र नहीं। जिस प्रकार जल अथवा दर्पण में ही किसी का बिम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार परमात्मा की अनुभूति चित्त में ही होती है इसलिए उसे हृदय में स्थित बताया गया है।

सूत्र ८—"सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात।"

भावार्थ : यदि कहो कि हृदय में स्थित होने के कारण तथा चेतन होने के कारण उसको सुख-दुःखों का भोग भी प्राप्त होता होगा तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जीवात्मा की अपेक्षा उस परब्रह्म में विशेषता है।

व्याख्या—चूंकि वह परब्रह्म चेतन है तथा शरीर के भीतर स्थित होने के कारण शरीर तथा मन आदि के सुख दुःखों की अनुभूति भी उसको प्राप्त होती होगी, ऐसी शंका होती है किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जीवात्मा तथा परमात्मा भिन्न है। जीवात्मा अहंकार युक्त होने से वह कर्ता तथा भोक्ता बन जाता है किन्तु वह ब्रह्म अहंकार रहित होने से न कर्ता है न भोक्ता। वह हृदय में रहते हुए भी शरीर, मन, इन्द्रियों के गुण दोषों से सर्वथा असंग है। वह निर्विकार रूप में स्थित है। वह केवल दृष्टा मात्र है। मुण्डक उपनिषद् (३/१/१-२) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४/६-८) में जीवात्मा तथा परमात्मा के अन्तर को एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर स्थित दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि एक

पक्षी (जीवात्मा) वृक्ष के फलों को खाता है तथा दूसरा (परब्रह्म) उसे देखता मात्र है। यही इस परब्रह्म की विशेषता है।

सूत्र ९ : "अत्ता चराचरग्रहणात्।"

भावार्थ : चर और अचर सबको ग्रहण करने के कारण यहाँ भोक्ता (भोजन करने वाला) अर्थात प्रलय-काल में सबको अपने में विलीन करने वाला पर-ब्रह्म परमेश्वर ही है।

व्याख्या—वह परब्रह्म शरीर में रहते हुए भी सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है क्योंकि वह जीवात्मा के समान नहीं है बल्कि उससे विशेष है किन्तु प्रलय काल में वह समस्त चर और अचर जगत को अपने में विलीन कर लेता है। यही उसका भोक्तापन है। कठोपनिषद् (१/२/२५) में इसी संहार करने को उसका भोक्तापन कहा गया है।

सूत्र १० : "प्रकरणाच्च।"

भावार्थ : प्रकरण से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—उक्त प्रकरण में ब्रह्म की जिस प्रकार व्याख्या की गई है उसके अनुसार भी यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म सुख-दुःखों का भोक्ता नहीं होता, क्योंकि वह शरीर में रहते हुए भी मन की वृत्तियों, बुद्धि के तथा शरीर के कार्यों से सदा असंग ही रहता है इसलिए उस पर आसक्ति, वासना आदि का लेप नहीं होता किन्तु वह प्रलयकाल में ही सब का भक्षण (अपने में विलीन) करता है। यही उसका भोक्तापन है।

सूत्र ११ : "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्।"

भावार्थ : हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट हुए दोनों जीवात्मा और परमात्मा ही हैं क्योंकि दूसरी श्रुति में भी ऐसा ही देखा गया है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद, कठोपनिषद तथा गीता आदि में कहा गया है कि इस शरीर में हृदय रूपी गुहा में जीवात्मा और परमात्मा दोनों धूप और छाया की भाँति, सख्य भाव से सदा साथ रहने वाले हैं। जहाँ जीवात्मा है वहीं परमात्मा भी है किन्तु सुख-दुःखों का भोक्ता जीवात्मा ही है। परमात्मा दृष्टामात्र है। दोनों विरुद्ध स्वभाव वाले होते हुए भी साथ-साथ रहते हैं। जीवात्मा अहंकार एवं आसक्ति के कारण कर्ता एवं कर्मफलों का भोक्ता है जबकि परब्रह्म इनसे रहित होने के कारण न कर्ता है न भोक्ता। वह कर्तापन एवं भोक्तापन से रहित है।

सूत्र १२ : "विशेषणाच्च।"

भावार्थ : दोनों के लिए अलग-अलग विशेषण दिये गए हैं इसलिए भी दोनों को जीवात्मा और परमात्मा मानना ही ठीक है।

व्याख्या –इस हृदयरूपी गुहा में जिन दोनों जीवात्मा तथा परमात्मा का वर्णन किया गया है उन दोनों के लिए भिन्न-२ विशेषणों का प्रयोग किया गया है इसलिए ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले होते हुए भी एक साथ ही रहने वाले जीवात्मा और परमात्मा ही हैं।

सूत्र १३ : "अन्तर उपपत्ते।"

भावार्थ : जो नेत्र के भीतर दिखाई देने वाला कहा गया है,

वह ब्रह्म ही है क्योंकि ऐसा मानने से ही पूर्वापर प्रसंग की संगति बैठती है।

व्याख्या - छान्दोग्य उपनिषद (४/१५/१) में कहा गया है कि "यह जो नेत्र में पुरुष दीखता है वह आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय और ब्रह्म है।" इसमें उस पुरुष के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है कि वह आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है और ब्रह्म है—ये उस ब्रह्म के ही विशेषण हैं जीवात्मा के नहीं। यह उपदेश उपकौसल को सत्यकाम नामक ऋषि ने दिया था।

सूत्र १४ : "स्थानादिव्यपदेशाच्च ।"

भावार्थ : श्रुति में अनेक स्थानों पर ब्रह्म के लिए स्थान आदि का निर्देश किया गया है, इसलिए भी यह नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष यहां ब्रह्म ही है।

व्याख्या - श्रुतियों में ब्रह्म को सर्वव्यापी बताया गया है। ऊपर के सूत्र में उसे नेत्र में दिखाई देने वाला पुरुष (ब्रह्म) कहा गया है इसका अर्थ है वह दृष्टा है। देखने वाला वही है। आँख एक यन्त्र मात्र है जिससे दिखाई देता है किन्तु इसके भीतर वही ज्योति रूप से विद्यमान है जिससे बाह्य वस्तुएँ दिखाई देती हैं। उस ज्योति के न रहने पर आँख के होते हुए भी व्यक्ति कोई वस्तु नहीं देख सकता। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी उसी चेतन शक्ति (ब्रह्म) के कारण ही अपना-अपना कार्य करती हैं। उस तत्व की उपस्थिति के बिना शरीर का कोई भी भाग प्रकृति जन्य होने से स्वयं अपना कार्य नहीं कर सकता।

सूत्र १५ : "सुखविशिष्टाभिधानादेव च ।"

भावार्थ : तथा नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष को आनन्दयुक्त बताया

गया है इसलिए भी यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म ही है।

व्याख्या—श्रुति में नेत्र में स्थित जिस पुरुष का वर्णन किया गया है वह ब्रह्म के अतिरिक्त अंन्य कोई तत्व नहीं हो सकता क्योंकि उसके लिए अमृत, अभय और ब्रह्म का प्रयोग किया गया है। जो अमृत और अभय ही आनन्दयुक्त हो सकता है। अतः वह ब्रह्म ही सूक्ष्म, सर्वव्यापी, दृष्टा एवं आनन्द स्वरूप है अन्य कोई नहीं।

सूत्र १६ : "श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च।"

भावार्थ : इसके सिवा उपनिषद आदि के श्रवण कर लेने वाले ब्रह्मवेत्ता की जो गति बतलाई गई है, वही गति उस पुरुष को जानने वाले की भी कही गई है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि नेत्र में दीखने वाला वह पुरुष ब्रह्म ही है।

व्याख्या--उपनिषदों का कथन है कि जो ब्रह्मविद्या के द्वारा परमात्मा को जान लेते हैं वे उत्तरायण मार्ग से सूर्यलोक को प्राप्त कर लेते हैं। यही परमगति है जहाँ से पुनरागमन नहीं होता। ऐसी ही गति नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष अर्थात दृष्टा को जानने वाले की भी कही गई है कि वह भी देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में ब्रह्म को प्राप्त होता है जिससे वह पुनः संसार में लौटकर नहीं आता। इससे भी यही सिद्ध होता है कि नेत्रों में स्थित वह पुरुष 'ब्रह्म' ही है।

सूत्र १७ : "अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः।"

भावार्थ : अन्य किसी की नेत्र में निरन्तर स्थिति न होने के कारण तथा श्रुति में बताये गए गुण दूसरे किसी

में सम्भव न होने के कारण ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई भी नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष नहीं है ।

व्याख्या—इस सूत्र में एक शंका का समाधान किया गया है कि यह नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष जीवात्मा, नेत्रेन्द्रिय के अधिष्ठाता देवता तथा बाहर के छाया पुरुष का प्रतिबिम्ब भी तो हो सकता है । इसका समाधान यहाँ किया गया है कि ये निरन्तर एक ही स्थिति में नेत्र में सदा नहीं रहते तथा श्रुति में जो गुण इस पुरुष के बतलाये गये हैं जैसे अमृतत्व, निर्भयता आदि वे ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य में नहीं मिलते । इसलिए वह नेत्रा-न्तर्वर्ती पुरुष ब्रह्म ही है । यही मानना उचित है ।

सूत्र १८ : "अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्ययदेशात् ।"

भावार्थ : आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि समस्त वस्तुओं में जिसे अन्तर्यामी बतलाया गया है वह ब्रह्म ही है क्योंकि वहां उसी के धर्मों का वर्णन है ।

व्याख्या—वृहदारण्यकोपनिषद में याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा, "यह तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा देखने में न आने वाला किन्तु स्वयं सबको देखने वाला है, सुनने में न आने वाला किन्तु स्वयं सब कुछ सुनने वाला है और मनन करने में न आने वाला किन्तु स्वयं सबका मनन करने वाला है । वह विशेष रूप से किसी के जानने में नहीं आता, किन्तु स्वयं सब को विशेष रूप से भली भाँति जानता है । ऐसा यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सब कुछ विनाशशील है । इसमें जीवात्मा का यह अन्तर्यामी आत्मा ब्रह्म ही है क्यों-कि ये गुण ब्रह्म के सिवा अन्य किसी में नहीं हो सकते ।

सूत्र १९ : "न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ।"

भावार्थ : सांख्य-स्मृति द्वारा प्रतिपादित प्रधान (जड़ प्रकृति) भी अन्तर्यामी नहीं है क्योंकि इस प्रकरण में बताए हुए दृष्टापन आदि धर्म प्रकृति के नहीं हैं ।

व्याख्या—सांख्य-स्मृति के अनुसार प्रकृति के सत्व, रज तथा तम तीन गुण बताये गये हैं । ये गुण जब साम्यावस्था में रहते हैं तो इसे 'प्रधान' कहा गया है । यह प्रकृति चूंकि जड़ है इसलिए इसे भी अन्तर्यामी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जड़ में दृष्टापन आदि चैतन्य के धर्म नहीं हो सकते । इसलिये यह 'अन्तर्यामी' प्रकृति नहीं हो सकती । वह ब्रह्म की ही विशेषताएँ हैं ।

सूत्र २० : "शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।"

भावार्थ : शरीर में रहने वाला जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं है । क्योंकि माध्यान्दिनी तथा काव्व दोनों ही शाखा वाले इस जीवात्मा को अन्तर्यामी से भिन्न मानकर अध्ययन करते हैं ।

व्याख्या—शतपथ ब्राह्मण (१४/५/३०) तथा बृहदारण्यक उपनिषद (३/७/२२) में उल्लेख है, "जो जीवात्मा में रहने वाला, जीवात्मा के भीतर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है और उसके भीतर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।" इस प्रकार माध्यान्दिनी एवं काव्व दोनों शाखा वाले विद्वान जीवात्मा को अन्तर्यामी नहीं कहते बल्कि वह जीवात्मा

के भीतर रहकर उसका भी नियमन करने वाला है। ऐसा अन्तर्यामी वह ब्रह्म ही है, स्वयं जीवात्मा नहीं।

सूत्र २१ : "अदृश्यत्वादिगुण को धर्मोक्तेः।"

भावार्थ : अदृश्यता आदि गुणों वाला परब्रह्म ही है क्योंकि उस जगह उसी के सर्वज्ञता आदि धर्मों का वर्णन है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद (१/१/४५) में महर्षि अंगिरा शौनक मुनि से कहते हैं कि "दो विद्याएँ ही जानने योग्य हैं; एक परा और दूसरी अपरा भी।" "इन दोनों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, कल्प, और ज्योतिष ये 'अपरा विद्या' हैं तथा जिससे वह अविनाशी परब्रह्म तत्व से जाना जाता है वह 'परा विद्या' है।" इसी के सूत्र १/१/६ में कहा गया है, "यह जो जानने में न आने वाला, पकड़ने में न आने वाला, गोत्र आदि से रहित, रंग और आकृति से रहित, नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित और हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों से भी रहित है तथा वह जो नित्य, सर्वव्यापी, सबमें फैला हुआ, अत्यन्त सूक्ष्म और अविनाशी परब्रह्म है, उस समस्त प्राणियों के परम कारण को ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।" इसी उपनिषद (१/१/९) में कहा है, "जो सर्वज्ञ तथा सबको जानने वाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी परमेश्वर से यह विराट रूप जगत तथा नाम रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं।" यहाँ जिस सर्वज्ञता आदि धर्मों का वर्णन है वे उस परब्रह्म के ही हैं तथा उसे जान लेने पर सब कुछ जाना हुआ हो जाता है, अन्य किसी के जानने से नहीं। ये गुण जीवात्मा तथा प्रकृति के नहीं हो सकते।

सूत्र २२ : "विशेषणभेदव्ययदेशाभ्यां च नेतरौ ।"

भावार्थ : ब्रह्म सूचक विशेषणों का कथन होने से तथा जीवात्मा और प्रकृति को उससे भिन्न बताये जाने के कारण भी ये दोनों जगत के कारण नहीं कहे जा सकते ।

व्याख्या—ऊपर के सूत्र की पुष्टि में यह दूसरी युक्ति दी जा रही है कि अदृश्यता, सब भूतों का कारण, सर्वज्ञ आदि गुण ब्रह्म के लिए ही उपयुक्त हो सकते हैं । ये गुण प्रधान (प्रकृति) तथा जीवात्मा के गुण नहीं हो सकते । फिर मुण्डक उपनिषद (३/१/७) में कहा गया है कि "यहाँ देखने वालों के भीतर ही उनके हृदयरूपी गुफा में स्थित है ।" इसी उपनिषद (३/१/२) में तथा श्वेताश्वतर उपनिषद (४/७) में कहा गया है, शरीर रूपी समान वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा शरीर की गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है; असमर्थतावश दीनता का अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है । जब कभी भक्तों द्वारा सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को और उनकी महिमा को यह प्रत्यक्ष कर लेता है तब सर्वथा शोक रहित हो जाता है ।" इस प्रकार इन सूत्रों में परमेश्वर (ब्रह्म) को जीवात्मा तथा शरीर रूपी वृक्ष से भिन्न बतलाया गया है अतः जीव और प्रकृति दोनों इस जगत का कारण नहीं हो सकते ।

सूत्र २३ : **"रूपोपन्यासाच्च ।"**

भावार्थ : श्रुति में उसी के निखिल लोकमय विराट स्वरूप का वर्णन किया गया है; इससे भी वह ब्रह्म ही समस्त भूतों का कारण सिद्ध होता है ।

व्याख्या— मुण्डक उपनिषद (२/१/४) में भगवान के विराट

रूप का वर्णन किया गया है कि "इस परमेश्वर का अग्नि मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं, सब दिशाएँ दोनों कान हैं और विस्तृत वेद वाणी है, वायु प्राण है, जगत हृदय है, इसके दोनों पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है, यही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है।" इससे सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म ही समस्त भूत जगत का कारण है तथा वही सबका अन्तरात्मा है।

सूत्र २४ : "वैश्वानर: साधारण शब्दविशेषात् ।"

भावार्थ : 'वैश्वानर' नाम से परब्रह्म का ही वर्णन है; क्योंकि उस वर्णन में 'वैश्वानर' और 'आत्मा' इन साधारण शब्दों की अपेक्षा परब्रह्म के बोधक विशेष शब्दों का प्रयोग हुआ है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद में राजा अश्वपति विभिन्न ऋषियों की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि, "इस विश्व के आत्मा वैश्वानर का द्यूलोक मस्तक है, सूर्य नेत्र हैं, वायु प्राण हैं, आकाश शरीर का मध्यभाग है, जान बस्ति स्थान है, पृथ्वी दोनों चरण हैं, वेदी वक्षःस्थल है, दर्भ लोम है, गार्हपत्य अग्नि हृदय है, अन्वाहार्यपचन अग्नि मन है और आहवनीय अग्नि मुख है।" इस वर्णन से स्पष्ट है कि यहाँ विश्व के आत्मा रूप विराट पुरुष को ही 'वैश्वानर' कहा गया है क्योंकि इसमें जठराग्नि आदि के वाचक साधारण शब्दों की अपेक्षा परब्रह्म के वाचक विशेष शब्दों का जगह-जगह प्रयोग हुआ है। सामान्यतया 'वैश्वानर' का प्रयोग जठराग्नि के लिए होता है किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है।

सूत्र २५ : "स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।"

भावार्थ : स्मृति में जो विराट स्वरूप का वर्णन है वह मूल

भूत श्रुति के वचन का अनुमान कराता हुआ वैश्वानर के 'परमेश्वर' होने का निश्चय करने वाला है। इसलिए उस प्रकरण में 'वैश्वानर' परमात्मा ही है।

व्याख्या - महाभारत के शान्तिपर्व (४७/७०) में कहा गया है कि, "अग्नि जिसका मुख, द्यूलोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथ्वी दोनों चरण, सूर्य नेत्र तथा दिशाएँ कान हैं, उस सर्वलोक स्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।" यह स्मृति वचन भी किसी श्रुति का ही होना सिद्ध होता है। छान्दोग्य श्रुति का उपर्युक्त वर्णन ही इसका आधार है। अतः यहाँ भी परब्रह्म के उस विराट् रूप को ही 'वैश्वानर' कहा गया है यह स्मृति से भी सिद्ध होता है। माण्डूक्य उपनिषद् में भी ब्रह्म के चार पादों का वर्णन करते हुए ब्रह्म का पहला पाद वैश्वानर को ही बताया है जो परमेश्वर के विराट् स्वरूप का ही वाचक है। जठराग्नि एवं जीवात्मा का नहीं।

सूत्र २६ : 'शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्टयुपदेशाद सम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ।"

भावार्थ : यदि कहो शब्दादि हेतुओं से अर्थात अन्य श्रुति में वैश्वानर शब्द अग्नि के अर्थ में विशेष रूप में प्रयुक्त हुआ है और इस मन्त्र में गार्हपत्य आदि अग्निओं को वैश्वानर का अंग बताया गया है इसलिए तथा श्रुति में वैश्वानर को शरीर के भीतर प्रतिष्ठित कहा गया है इसलिए भी यहाँ 'वैश्वानर' शब्द परब्रह्म का वाचक नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहां वैश्वानर

में ब्रह्म दृष्टि करने का उपदेश है। इसके सिवा केवल जठरानल का विराट् रूप में वर्णन होना संभव नहीं है, इसलिए तथा इस वैश्वानर को 'पुरुष' नाम देकर भी पढ़ते हैं इसलिए उक्त प्रकरण में वैश्वानर शब्द 'परब्रह्म' का ही वाचक है।

व्याख्या—गीता (१५/१४) में कहा गया है कि, 'मैं ही वैश्वानर रूप से प्राणियों के शरीर में स्थित हो चार प्रकार के अन्न का पाचन करता हूं।' साथ ही शतपथ ब्राह्मण (१०/६/१/११) में भी इसे पुरुष के आकार का तथा पुरुष के भीतर प्रतिष्ठित बताया गया है वह ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, जठराग्नि के लिए नहीं।

सूत्र २७ : "अत एव न देवता भूतं च।"

भावार्थ : उपर्युक्त कारणों से ही यह भी सिद्ध होता है कि द्यौ, सूर्य आदि लोकों के अधिष्ठाता देवता और आकाश आदि भूत समुदाय भी वैश्वानर नहीं हैं।

व्याख्या पूर्व सूत्र में जो कारण बताये गये हैं उनसे यह भी समझ लेना चाहिए कि इन लोकों के अभिमानी देवगण और भूत समुदाय भी वैश्वानर नहीं हैं क्योंकि इन सभी को वैश्वानर का शरीर बताया गया है। इसलिए उस परब्रह्म को ही 'वैश्वानर' माना गया है।

सूत्र २८ : "साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।"

भावार्थ : 'वैश्वानर' शब्द को साक्षात् ब्रह्म वाचक मानने में भी कोई विरोध नहीं है ऐसा आचार्य जैमिनि कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि का भी मत है कि जिस प्रकार शालिग्राम को विष्णु का प्रतीक मानकर उपासना की जाती है उस प्रकार वैश्वानर ब्रह्म का प्रतीक नहीं है। वैश्वानर साक्षात् ब्रह्म का ही वाचक है। अतः उनके मत से भी कोई विरोध नहीं है।

सूत्र २९ : "अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः।"

भावार्थ : भक्तों द्वारा अनुग्रह करने पर देश विदेश में ब्रह्म का प्राकट्य होता है, इसलिए कोई विरोध नहीं है ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—आचार्य आश्मरथ्य का कहना है कि भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए भगवान मनुष्य आदि के रूप में समय समय पर प्रकट होते हैं। यही बात केनोपनिषद् (३/२) तथा गीता (४/६-९) एवं अन्यान्य ग्रन्थों में भी कही गई है कि वह निर्गुण, निराकार परमात्मा सगुण साकार रूप ग्रहण करता है।

सूत्र ३० : "अनुस्मृतेर्बादरिः।"

भावार्थ : बादरि नामक आचार्य मानते हैं कि विराट् रूप में परमेश्वर का स्मरण करने के लिए उसको देश विशेष से सम्बद्ध बताने में कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—भगवान सर्व समर्थ होने से भक्तजन जिस-जिस रूप में उनका चिन्तन करते हैं वे उसी-उसी रूप में उनसे मिलते हैं। श्रीमद्भागवद् में भी ऐसा ही कहा गया है कि 'महान यशस्वी परमेश्वर ! आपके भक्तजन अपने हृदय में

आपको जिस-जिस रूप में चिन्तन करते हैं, आप उन सन्त महानुभावों पर अनुग्रह करने के लिए वही-वही शरीर धारण कर लेते हैं (३/९/२२)।'

सत्र ३१ : "सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति।"

भावार्थ : परब्रह्म अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न है इसलिए उसे देश विशेष से सम्बन्ध रखने वाला मानने में कोई विरोध नहीं है, ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं क्योंकि ऐसा ही भाव दूसरी श्रुति भी प्रकट करती है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि कहते हैं कि वह परब्रह्म परमेश्वर अनन्त ऐश्वर्य से सम्पन्न है। वे निर्विकार, निराकार, देश कालातीत होते हुए भी सगुण, साकार एवं देश विशेष से सम्बन्ध रखने वाले हैं, ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं है। मुण्डक उपनिषद् (२/१/४) में भी यही भाव प्रकट किया गया है।

सूत्र ३२ : "आमनन्ति चैनमस्मिन्।"

भावार्थ : इस वैदिक सिद्धान्त में इस परमेश्वर को ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं।

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर का जैसा वर्णन शास्त्रों में किया गया है उसे उसी प्रकार मान लेना ही उचित है। यहाँ स्वयं की युक्ति या तर्क काम नहीं आता क्योंकि जिन्होंने इसे प्रत्यक्ष अनुभव किया है वही शास्त्रों के रूप में हमारे लिए प्रमाण हैं। सामान्य बुद्धि वाले इसे जानने में असमर्थ रहते हैं जिससे उनको शास्त्रोक्त कथनों में विश्वास करना चाहिए।

॥ दूसरा पाद सम्पूर्ण ॥

१. पहला अध्याय

३. तीसरा पाद

सूत्र १ : "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ।"

भावार्थ : उपनिषदों में जिसे स्वर्ग और पृथ्वी आदि का आधार बताया गया है वह परब्रह्म ही है क्योंकि वहाँ उस परमात्मा के बोधक 'आत्मा' शब्द का प्रयोग है ।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (२/२/५) में कहा गया है कि जिसमें स्वर्ग, पृथ्वी और उनके बीच का आकाश तथा समस्त प्राणियों के सहित मन गूंथा हुआ है, उसी एक सबके आत्मरूप परमेश्वर को जानो, दूसरी सब बातों को सर्वथा छोड़ दो, यही अमृत का सेतु है।' इस मन्त्र में जिस एक आत्मा को समस्त जगत् का आधार बताया गया है वह परब्रह्म ही है, जीवात्मा या प्रकृति नहीं, क्योंकि इसमें परब्रह्म बोधक 'आत्मा' शब्द का प्रयोग है ।

सूत्र २ : "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।"

भावार्थ : उस सर्वाधार परमात्मा को मुक्त पुरुषों के लिए प्राप्तव्य बतलाया गया है इसलिए वह जीवात्मा नहीं हो सकता ।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/२/८) में कहा गया है कि जिस प्रकार बहती हुई नदिया अपने नाम रूप को छोड़कर

समुद्र में विलीन हो जाती है वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम रूप से रहित होकर उत्तम से उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार यह परम पुरुष ब्रह्म-ज्ञानियों (मुक्त पुरुषों) के लिए प्राप्तव्य बताया है। इस प्रकार यह जीव के द्वारा प्राप्त करने योग्य है अतः यह ब्रह्म ही है, जीवात्मा नहीं। जीवात्मा प्राप्त करने वाला है।

सूत्र ३ : "नानुमानमतच्छब्दात्।"

भावार्थ : अनुमान कल्पित प्रधान (प्रकृति) द्यू लोक और पृथ्वी आदि का आधार नहीं हो सकता क्योंकि उसका प्रतिपादक कोई शब्द इस प्रकरण में नहीं है।

व्याख्या—प्रकृति को स्वर्ग और पृथ्वी आदि का आधार नहीं माना जा सकता क्योंकि इस प्रकरण में ऐसा कोई शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसलिए प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती।

सूत्र ४ : "प्राणभृच्च।'

भावार्थ : प्राणधारी जीवात्मा भी द्यूलोक आदि का आधार नहीं हो सकता।

व्याख्या—प्रकृति के समान ही जीवात्मा भी इनका आधार नहीं हो सकता क्योंकि उनका वाचक शब्द भी इस प्रकरण में नहीं है। मुण्डक उपनिषद् (२/२/७) में भी कहा गया है कि 'यह हृदय कमल का आश्रय लेकर अन्नमय स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित है जो आनन्द स्वरूप अविनाशी परब्रह्म सर्वत्र प्रकाशित है। बुद्धिमान मनुष्य विज्ञान के द्वारा उसको भली-भाँति

प्रत्यक्ष कर लेते हैं।' यह आनन्दमय एवं अमृतमय शब्द परब्रह्म के लिए ही उपयुक्त है। इसलिए जीवात्मा को इनका आधार नहीं माना जा सकता।

सूत्र ५ : "भेदव्यपदेशात्।"

भावार्थ : यहाँ कहे हुए आत्मा को जीवात्मा से भिन्न बताये जाने के कारण प्राणधारी जीवात्मा सब का आधार नहीं है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (२/२/५) में कहा गया है कि, 'उस आत्मा को जानो।' इसका अर्थ है जानने वाला उस आत्मा से भिन्न है। इसी प्रकार इसी उपनिषद् (३/१/७) में कहा गया है कि, 'देखने वालों के भीतर ही उनके हृदय रूपी गुफा में स्थित है।' इसके अनुसार उक्त आत्मा को जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में स्थित बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि यह आत्मा इस जीवात्मा से भिन्न है तथा वही द्यूलोक एवं पृथ्वी का आधार है, जीवात्मा नहीं।

सूत्र ६ : "प्रकरणात्।"

भावार्थ : यहाँ परब्रह्म परमात्मा का प्रकरण है इसलिए भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा और जड़ प्रकृति द्यूलोक आदि के आधार नहीं है।

व्याख्या—इस प्रकरण में परब्रह्म के जो गुण बताये गये हैं वे जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न हैं इसलिए जीवात्मा और प्रकृति इनका आधार नहीं है। परब्रह्म ही इनका आधार है।

सूत्र ७ : "स्थित्यदनाभ्यां च।"

भावार्थ : एक ही शरीर में साक्षी रूप से स्थित और दूसरे

के द्वारा सुख दुःख प्रद विषय का उपभोग बताया गया है इसलिए भी जीवात्मा और परमात्मा में भेद सिद्ध होता है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (३/१/१) तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् (४/६) में कहा है, 'एक साथ रहते हुए परस्पर सख्य भाव रखने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही शरीर रूपी वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक (जीवात्मा) तो उस वृक्ष के कर्मफल स्वरूप सुख दुःखों का स्वाद ले लेकर (आसक्ति पूर्वक) उपभोग करता है किन्तु दूसरा (परमात्मा) न खाता हुआ केवल देखता रहता है।' इस उदाहरण से जीवात्मा एवं परमात्मा का भेद स्पष्ट होता है कि जीवात्मा सुख-दुःखों का भोक्ता होता है किन्तु परमात्मा केवल दृष्टा होता है। इससे भी सृष्टि का आधार ब्रह्म ही सिद्ध होता है जीवात्मा नहीं।

सूत्र ८ : "भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्।"

भावार्थ : भूमा (सबसे बड़ा) ब्रह्म ही है क्योंकि उसे प्राण शब्द वाच्य जीवात्मा से भी ऊपर बताया गया है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (७/१५/१) में प्राणों को ही सबसे बड़ा बताया है किन्तु आगे यह भी कहा गया है कि भूमा ही सुख रूप है जो इन सबसे बड़ा है। यहाँ 'भूमा' परब्रह्म का ही बोधक है, प्राण जीवात्मा तथा प्रकृति का नहीं।

सूत्र ९ : "धर्मोपपत्तेश्च।"

भावार्थ : यहाँ भूमा के धर्म बतलाये गये हैं जो ब्रह्म में ही

सुसंगत हो सकते हैं। इसलिए भी यहां 'भूमा' ब्रह्म ही है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (७/२४/१) में कहा गया है कि 'जहाँ पहुँचकर न अन्य किसी को देखता, न अन्य को सुनता है, न अन्य को जानता है वह 'भूमा' है। इसकी संगति परब्रह्म से ही है। अन्य से नहीं।

सूत्र १० : "अक्षरमम्बरान्तधृते: ।"

भावार्थ : यहाँ अक्षर शब्द ब्रह्म का ही वाचक है क्योंकि उसको आकाश पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाला बताया गया है।

व्याख्या—श्रुतियों में जहाँ 'अक्षर' नाम से वर्णन आया है अर्थात जो अविनाशी है वह परब्रह्म ही है। अन्य सभी नाश-वान हैं।

सूत्र ११ : "सा च प्रशासनात् ।"

भावार्थ : और वह आकाश पर्यन्त सब भूतों को धारण करना, रूप, क्रिया आदि परब्रह्म ही है क्योंकि उसे सब पर भली भाँति शासन करने वाला कहा गया है।

व्याख्या—बृहदारण्यक उपनिषद् (३/८/६) में कहा गया है कि 'इसी अक्षर से सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए हैं एवं द्यूलोक, पृथ्वी, निमेष, मुहुर्त, दिन-रात आदि काल इससे धारण किये हुए हैं।' इस प्रकार यह अक्षर (ब्रह्म) ही सबको धारण करने वाला एवं इन पर शासन करने वाला है। यह कार्य जड़ प्रकृति का नहीं हो सकता।

सूत्र १२ : "अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।"

भावार्थ : यहां अक्षर में अन्य (प्रकृति आदि) के लक्षणों का निराकरण किया गया है। इसलिए भी 'अक्षर' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

व्याख्या—बृहदारण्यक उपनिषद् (३/८/११) में कहा गया है कि, 'वह अक्षर देखने में न आने वाला किन्तु स्वयं सबको देखता है, सुनने में न आने वाला, किन्तु स्वयं सुनने वाला है, मनन करने में न आने वाला किन्तु स्वयं मनन करने वाला है, जानने में न आने वाला किन्तु स्वयं सबको भली-भाँति जानता है।' इस प्रकार ये गुण विनाश शील प्रकृति के नहीं हो सकते इसलिए यहाँ 'अक्षर' परब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र १३ : "ईक्षतिकर्मण्यपदेशात् सः ।"

भावार्थ : यहां परम पुरुष को 'ईक्षते' क्रिया का कर्म बताये जाने के कारण वह परब्रह्म ही है।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् (५/५) में तीन मात्राओं वाले ओं द्वारा इस अक्षर ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करना बतलाया गया है वह परब्रह्म ही है। इसी को 'ईक्षते' (साक्षात् करना) क्रिया का कर्म बतलाया गया है।

सूत्र १४ : "दहर उत्तरेभ्यः ।"

भावार्थ : उक्त प्रकरण में 'दहर' (सूक्ष्म) शब्द से जिस ज्ञेय तत्व का वर्णन किया गया है वह ब्रह्म ही है क्योंकि उसके पश्चात् आये हुए वचनों से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (८/१/१) में कहा गया है

'इस ब्रह्म के नगर रूप मनुष्य शरीर में कमल के आकार वाला एक घर (हृदय) है, उसमें सूक्ष्म आकाश है। उसके भीतर जो वस्तु है उसको जानने की इच्छा करनी चाहिए।' यहाँ इसी 'दहर' (सूक्ष्म) शब्द का लक्ष्य परब्रह्म ही है। आगे इसी को पापों से रहित, जरा-मरण वर्जित, शोक शून्य, सत्यकाम, सत्य संकल्प तथा अभय, अमृत और ब्रह्म कहा है (८/१/५ तथा ८/३/४) अतः यहाँ 'दहर' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र १५ : "गतिशब्दाभ्यां तथा दृष्टं लिङ्गं च।"

भावार्थ : ब्रह्म में गति का वर्णन और ब्रह्म वाचक शब्द होने से एवं दूसरी श्रुतियों में ऐसा ही वर्णन देखा गया है और इस वर्णन में आये हुए लक्षण भी ब्रह्म के हैं। इसलिए यहां 'दहर' नाम से ब्रह्म का ही वर्णन है।

व्याख्या—श्रुतियों में कई स्थानों पर कहा गया है कि सुषुप्ति अवस्था में जीव 'सत्' नाम से कहे जाने वाले परब्रह्म परमात्मा से संयुक्त होता है। यही इसकी गति है तथा अमृत, अभय आदि लक्षण ब्रह्म में ही सुसंगत है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'दहर' नाम से परब्रह्म का ही वर्णन है।

सूत्र १६ : "धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धे।"

भावार्थ : इस 'दहर' में समस्त लोकों को धारण करने की शक्ति बताई जाने के कारण भी यह परब्रह्म का ही वाचक है क्योंकि इसकी महिमा का इस परब्रह्म परमात्मा में होना अन्य श्रुतियों में भी पाया जाता है। इसलिए 'दहर' नाम से ब्रह्म का वर्णन मानना सर्वथा उचित है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (८/४/१) तथा वृह० उप० (३/८/९ एवं ४/४/२२) में कहा गया है कि वह आत्मा सब लोकों का धारण करने वाला है। एक अक्षर परमात्मा के ही शासन में रहकर सूर्य और चन्द्रमा भली-भाँति धारण किये हुए स्थित हैं आदि। इसलिए यह ब्रह्म ही है जिसका 'दहर' नाम से वर्णन किया गया है।

सूत्र १७ : "प्रसिद्धेश्च।"

भावार्थ : आकाश शब्द परमात्मा के अर्थ में प्रसिद्ध है इस कारण भी 'दहर' नाम परब्रह्म का ही है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (१/९/१) में कहा गया है, निश्चय ही ये सब प्राणी आकाश से ही उत्पन्न होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् (२/७/१) में कहा गया है, 'यदि यह आनन्द स्वरूप आकाश न होता तो कौन जीवित रह सकता? कौन प्राणों की क्रिया कर सकता?' इसलिए भी 'दहर' शब्द परब्रह्म का ही वाचक है। आकाश शब्द परमात्मा के अर्थ में ही प्रसिद्ध है।

सूत्र १८ : "इतरपरामर्शात् साइति चेन्ना सम्भवात्।"

भावार्थ : यदि कहो दूसरे अर्थात् जीवात्मा का संकेत होने के कारण वही 'दहर' नाम से कहा गया है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वहां कहे हुये लक्षण जीवात्मा में सम्भव नहीं है।

व्याख्या—पूर्वोक्त सूत्रों में 'दहर' के जो-जो लक्षण बताये गये हैं वे जीवात्मा के लक्षण नहीं हैं इसलिए इस 'दहर' शब्द से परब्रह्म का ही वर्णन हुआ है ऐसा मानना ही उचित है।

सूत्र १९ : "उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।"

भावार्थ : यदि कहो उसके बाद वाले वर्णन से भी 'दहर' शब्द जीवात्मा का ही बोधक सिद्ध होता है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उस मन्त्र में जिसका वर्णन है, वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुआ आत्मा है ।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (८/३/४) में सम्प्रसाद के नाम से जीवात्मा का वर्णन है और उसके लिए भी अमृत, अभय आदि विशेषण आये हैं जो ब्रह्म के ही विशेषण हैं किन्तु इसमें अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुए जीवात्मा के लिए ही ये विशेषण आये हैं । इसलिए इसके आधार पर 'दहर' शब्द को जीवात्मा का वाचक नहीं माना जा सकता ।

सूत्र २० : अन्यार्थश्च परामर्शः ।"

भावार्थ : उक्त प्रकरण में जीवात्मा को लक्ष्य कराने वाला संकेत भी दूसरे ही प्रयोजन के लिए है ।

व्याख्या—उक्त प्रकरण में जिस जीवात्मा का संकेत है उसका प्रयोजन है कि जीवात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करके ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है । इसलिए यहाँ 'दहर' शब्द जीवात्मा का नहीं ब्रह्म का ही वाचक है ।

सूत्र २१ : "अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ।"

भावार्थ : यदि कहो कि श्रुति में 'दहर' को बहुत छोटा बताया गया है, इसलिए 'दहर' शब्द यहाँ जीवात्मा का ही ग्रहण है ऐसा मानना चाहिए तो इसका उत्तर दिया जा चुका है ।

व्याख्या—श्रुति में 'दहराकाश' को अत्यन्त लघु बताया गया है इसलिए यह जीवात्मा का ही वाचक सिद्ध होता है किन्तु इस शंका का उत्तर पहले सूत्र १/२/७ में दिया जा चुका है।

सूत्र २२ : 'अनुकृतेस्तस्य च।'

भावार्थ : उस जीवात्मा का अनुकरण करने के कारण भी परमात्मा को अल्प परिमाण वाला कहना उचित है।

व्याख्या—वेदों में ब्रह्म को 'अणोरणयिान्' (छोटे से छोटा) तथा 'महतो महीयान्' (बड़े से बड़ा) बताया गया है तथा तैत्तिरीय उपनिषद् (२/६) में कहा गया है कि परमात्मा उस जगत की रचना करने के अनन्तर वह स्वयं उसी में साथ-साथ प्रविष्ठ हो गया। ऐसा ही छान्दोग्य उपनिषद् (६/३/३) में कहा गया है। इस प्रकार परमात्मा को जीवात्मा का अनुकरण करने वाला बताया जाने के कारण भी उसे अल्प परिणाम वाला कहना उचित है।

सूत्र २३ : 'अपि च स्मर्यते।'

भावार्थ : इसके सिवा यही बात स्मृति में भी कही गई है।

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर सबके हृदय में स्थित है और वह छोटे से भी छोटा है, ऐसा स्मृतियों में भी कई बार कहा गया है। इसलिए उसे छोटे से छोटा कहना उचित है। अतः 'दहर' शब्द से परब्रह्म का ही वर्णन है, जीवात्मा का नहीं।

सूत्र २४ : 'शब्दादेव प्रमितः।'

भावार्थ : उक्त प्रकरण में आये हुए शब्द से ही यह सिद्ध

होता है कि अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला पुरुष परमात्मा ही है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/१/१२ तथा २/१/१३) में कहा गया है, 'अंगुष्ठ मात्र परम पुरुष (परमात्मा) शरीर के मध्य भाग हृदयाकाश में स्थित है जो भूत और भविष्य का शासन करने वाला है—वह परम पुरुष (परमात्मा) धूम रहित ज्योति की भाँति है। परमात्मा ही आज है और वह कल भी है अर्थात वह नित्य और सनातन है, वही है वह परमात्मा।' इसमें यह अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला पुरुष परब्रह्म ही है।

सूत्र २५ : 'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्।'

भावार्थ : उस परम पुरुष को अंगुष्ठ के बराबर माप वाला कहना तो हृदय में स्थित बताये जाने की अपेक्षा से है क्योंकि ब्रह्म विद्या में मनुष्य का ही अधिकार है।

व्याख्या—ब्रह्म विद्या के द्वारा ब्रह्म को जानने का अधिकार केवल मनुष्य का ही है, अन्य योनियों में रहकर इसे नहीं जाना जा सकता। चूंकि मनुष्य के हृदय का माप अंगुष्ठ के बराबर माना गया है इसलिए इसमें स्थित ब्रह्म को भी अंगुष्ठ मात्र का बताया गया है तथा वह ज्योति स्वरूप होने से उसे अंगुष्ठाकार (लिंगाकार) बताया गया है।

सूत्र २६ : 'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्।'

भावार्थ : आचार्य बादरायण कहते हैं कि मनुष्य से ऊपर जो देवता आदि हैं उनका भी अधिकार है क्योंकि उन्हें वेद-ज्ञान पूर्वक ब्रह्मज्ञान सम्भव है।

व्याख्या—मनुष्य से नीचे की योनि वालों में ब्रह्म ज्ञान

प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं है किन्तु देवादि योनि मनुष्य योनि से धर्म एवं ज्ञान में श्रेष्ठ है अतः साधन करने पर उन्हें ब्रह्मज्ञान का होना संभव है तथा उन्हें यह अधिकार है ऐसा भगवान बादरायण कहते हैं।

सूत्र २७ : 'विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तो दर्शनात् ।'

भावार्थ : यदि कहो कि देवता को शरीर धारी मान लेने से यज्ञादि कर्म में विरोध आता है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उनके द्वारा एक ही समय अनेक रूप धारण करना संभव है। शास्त्र में ऐसा देखा गया है।

व्याख्या—देवता मनुष्यों की भाँति एक देशीय, शरीरधारी एवं आकृति युक्त नहीं हैं। वे एक ही समय में अनेक शरीर धारण कर सकते हैं ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३/९/१-२) में कहा गया है कि 'देवता तो तैंतीस ही हैं, अन्य इन्हीं की महिमा है।' इस प्रकार ये एक-एक ही अनेक हो जाते हैं। इसलिए ये ब्रह्म ज्ञान के अधिकारी हैं। ऐसा मानना ठीक है।

सूत्र २८ : 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां ।'

भावार्थ : यदि कहो देवता को शरीरधारी मानने पर वैदिक शब्द में विरोध आता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस वेदोक्त शब्द से ही देवता आदि जगत् की उत्पत्ति होती है। यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान (वेद और स्मृति) दोनों प्रमाणों से सिद्ध होती है।

व्याख्या—वेदों में देवताओं को नित्य माना गया है किन्तु यहाँ इन्हें शरीरधारी मान लेने से यज्ञादि कर्म में विरोध आता है क्योंकि शरीरधारी होने से उन्हें भी जन्म-मरण के चक्र से गुजरना पड़ेगा। ऐसा शंका होती है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि कल्प के आदि में देवादि की उत्पत्ति का वर्णन आता है वहाँ हर कल्प में उसी नाम, रूप और ऐश्वर्य वाले देवता उत्पन्न होते हैं किन्तु उनके जीव बदल जाते हैं। यह बात श्रुति एवं स्मृति दोनों शास्त्रों से सिद्ध होती है। इसलिए उन्हें नित्य ही माना जायेगा। वे जन्म-मरण से मुक्त हैं।

सूत्र २९ : 'अतएव च नित्यत्वम्।'

भावार्थ : इसीलिए वेद की नित्यता भी सिद्ध होती है।

व्याख्या—प्रत्येक कल्प में वेदों की भी नई रचना नहीं होती इसलिए वेद नित्य है तथा उन्हीं के शब्दों के अनुसार सृष्टि की नई रचना उसी प्रकार होती है जैसे पूर्व कल्प में हुई थी। इसलिए इन्हें नित्य कहा गया है।

सूत्र ३० : 'समान नाम रूपत्वाच्चावृत्तावप्य विरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च।'

भावार्थ : तथा कल्पान्तर में उत्पन्न होने वाले देवादिकों के नाम रूप पहले के ही समान होते हैं इस कारण पुनः आवृत्ति होने पर भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है क्योंकि श्रुति में ऐसा ही वर्णन देखा गया है और स्मृति से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—ऋग्वेद (१०/१९०/३) में कहा गया है कि 'जगत् सृष्टा परमेश्वर ने सूर्य, चन्द्रमा आदि सबको पहले की

भाँति बनाया।' श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है, 'जो परमेश्वर निश्चय ही सृष्टि काल में सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उन्हें समस्त वेदों का उपदेश देता है, (श्वेता० ६/१८)। महाभारत में भी कहा है, 'पूर्व कल्प की सृष्टि में जिन्होंने जिन कर्मों को अपनाया था, वाद की सृष्टि में बार-बार रचे हुए वे प्राणी फिर उन्हीं कर्मों को प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार श्रुतियों एवं स्मृतियों से यही सिद्ध होता है कि कल्पान्तर में उत्पन्न होने वाले देवादिकों के नाम, रूप पहले के सदृश ही वेद वचनानुसार रचे जाते हैं इसलिए उनकी बार-बार आवृति होती रहने पर भी वेद की नित्यता तथा प्रामाणिकता में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है।

सूत्र ३१ : 'मध्वादिष्व सम्भवावनधिकारं जैमिनिः।'

भावार्थ : जैमिनी नामक आचार्य मधुविद्या आदि में देवता आदि का अधिकार नहीं बताते हैं, क्योंकि यह संभव नहीं है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनी ने छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे अध्याय में मधु विद्या का वर्णन करते हुए कहा है कि देवताओं के लिए स्वर्गादि भोगों की प्राप्ति हेतु यज्ञादि कर्म अनावश्यक हैं क्योंकि उनके लिए सभी वस्तुयें स्वतः प्राप्त हैं। इनमें उनका अधिकार नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म विद्या में भी उनका अधिकार नहीं है।

सूत्र ३२ : 'ज्योतिषि भावाच्च।'

भावार्थ : ज्योति 'य लोकों में देवताओं की स्थिति होने के कारण भी उनका यज्ञादि कर्म एवं ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है।

व्याख्या—ये देवता ज्योतिर्मय देवलोकों में निवास करते हैं वहाँ उन्हें सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त है जिनसे उनके लिए अन्य लोकों की प्राप्ति हेतु ब्रह्म विद्या जैसे कर्मों में प्रवृत्ति संभव नहीं है जिससे इसमें उनका अधिकार नहीं है।

सूत्र ३३ : 'भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।'

भावार्थ : किन्तु आचार्य बादरायण यज्ञादि कर्म एवं ब्रह्म विद्या में देवता आदि के अधिकार का भाव (अस्तित्व) मानते हैं क्योंकि श्रुति में ऐसा वर्णन है।

व्याख्या—बृहदारण्यक उपनिषद् (१/४/१०) में कहा गया है कि देवताओं में से जिसने ब्रह्म को जान लिया है वहीं वह (ब्रह्म) हो गया।' छान्दोग्य उपनिषद् (८/७/२ से ८/१२/६) में प्रसंग आता है कि इन्द्र और विरोचन ने ब्रह्मा जी की सेवा में रहकर ब्रह्म विद्या प्राप्त की।' इनसे यह सिद्ध होता है कि देवता आदि का भी कर्म एवं ब्रह्म विद्या में अधिकार है।

सूत्र ३४ : 'शुगस्य तदनादर श्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि।'

भावार्थ : उन हंसों के मुख से अपना अनादर सुनकर इस राजा जानश्रुति के मन में शोक उत्पन्न हुआ। तदनन्तर जिनकी अपेक्षा अपनी तुच्छता सुनकर शोक हुआ था, उन रैक्व मुनि के पास वह विद्या प्राप्ति के लिए दौड़ा गया। इस कारण उन रैक्व मुनि ने उसे शूद्र कहकद पुकारा क्योंकि इससे रैक्व मुनि की सर्वज्ञता सूचित होती है।

व्याख्या छान्दोग्योपनिषद् (४/१/१ से ४) में कहा गया है कि एक बार राजा जानश्रुति को हंसों द्वारा सुने गये शब्दों

से शोक हुआ। वह शोक से वशीभूत होकर मुनि रैक्व के पास विद्या ग्रहण करने के लिए गया। यद्यपि राजा क्षत्रिय था किन्तु शोक के वशीभूत होने के कारण मुनि ने उसे 'शूद्र' कह कर पुकारा 'शुचम् आद्रवतिइति शूद्र'(जो शोक के पीछे दौड़ता है, वह शूद्र है) इससे रैक्व मुनि की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। इस उदाहरण से यह नहीं सिद्ध होता कि वेद विद्या में शूद्रों का अधिकार है।

सूत्र ३५ : 'क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिगात्।'

भावार्थ : जानश्रुति का क्षत्रिय होना प्रकरण में आये हुये लक्षण से जाना जाता है, इससे तथा बाद में कहे हुए चैत्ररथ के सम्बन्ध से जो क्षत्रिय सूचक चिन्ह या प्रमाण प्राप्त होता है उससे भी उसका क्षत्रिय होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— जानश्रुति श्रद्धापूर्वक दान देने वाला तथा अतिथियों का सत्कार करने वाला था। उसके राजोचित ऐश्वर्य का भी वर्णन है। साथ ही यह भी वर्णन है कि उसने राजा की कन्या को पति रूप में ग्रहण किया था। इससे सिद्ध होता है कि वह शूद्र नहीं क्षत्रिय था। शौनक और चैत्ररथ ने राजा जानश्रुति के यहाँ भोजन किया था। इससे भी सिद्ध होता है कि वह क्षत्रिय था किन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि जाति-शूद्र का वेद विद्या में अधिकार नहीं है।

सूत्र ३६ : 'संस्कार परामर्शात्तदभावाभिलापाच्च।'

भावार्थ : श्रुति में वेद विद्या ग्रहण करने के लिए पहले उपनयन आदि संस्कारों का होना आवश्यक बताया गया है। इसलिए तथा शूद्र के लिए उन

संस्कारों का अभाव कहा गया है इसलिए भी जाति-शूद्र का वेद विद्या में अधिकार नहीं है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/२/१०) में कहा गया है कि 'उन्हीं को इस ब्रह्म विद्या का उपदेश दे, जिन्होंने विधिपूर्वक उपनयनादि संस्कार कराकर ब्रह्मचर्य ब्रत का पालन किया हो।' इस प्रकार शूद्रों के लिए उपनयन संस्कार का विधान न होने से उन्हें वेद विद्या का अधिकार नहीं है।

सूत्र ३७ : 'तदभाव निर्धारणे च प्रवृत्तेः।'

भावार्थ : शिष्य में उस शूद्रत्व का भाव निश्चित करने के लिए आचार्य की प्रवृत्ति पाई जाती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वेदाध्ययन में शूद्र का अधिकार नहीं है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (४/५/३-५) में सत्यकाम जाबाल का प्रसंग आता है कि जब सत्यकाम गौतम नामक आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने गया तो गौतम ने उसका गोत्र पूछा। सत्यकाम ने जो सत्य था वह कह दिया कि मुझे अपने पिता एवं गोत्र का पता नहीं है क्योंकि मेरी माँ कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आती थी। इस सत्य वचन के आधार पर ऋषि ने उसे ब्राह्मण घोषित कर अपना शिष्य बना लिया एवं उसका उपनयन संस्कार कर दिया। इससे सिद्ध होता है कि शूद्र का वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है।

सूत्र ३८ : 'श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च।'

भावार्थ : शूद्र के लिए वेदों के श्रवण, अध्ययन तथा अर्थ-ज्ञान का भी निषेध किया गया है, इससे तथा

स्मृति प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि वेद विद्या में शूद्र का अधिकार नहीं है।

व्याख्या—वेदों में शूद्र के अध्ययन, श्रवण, अर्थज्ञान आदि का अधिकार नहीं दिया गया है। पाराशर स्मृति में कहा गया है कि, 'वेदों के अक्षरों का अर्थ समझने के लिए विचार करने पर शूद्र तत्काल पतित हो जाता है।' (१/७३) मनुस्मृति में भी (४/८०) कहा गया है, 'शूद्रों को वेद-विद्या का ज्ञान नहीं देना चाहिए। किन्तु विदुर आदि शूद्र जाति के सत्पुरुषों को ज्ञान प्राप्त होने की बात भी पाई जाती है। इतिहास, पुराणों को सुनने और पढ़ने में चारों वर्णों का समान रूप से अधिकार है। इसके द्वारा वह परमात्म ज्ञान प्राप्त कर सकता है। 'भक्ति द्वारा परमगति प्राप्त करने में मनुष्य मात्र का अधिकार है (गीता ९/३२)। वेदों के अध्ययन के लिए कुछ योग्यतायें अपेक्षित हैं। वे शूद्र में नहीं पाई जातीं। इसलिए उनको यह अधिकार नहीं दिया गया है।

सूत्र ३९ : 'कम्पनात्।'

भावार्थ : पूर्वोक्त अंगुष्ठ मात्र पुरुष परब्रह्म ही है क्योंकि उसी से समस्त जगत् चेष्टा करता है और उसी के भय से सब काँपते हैं।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/३/२) में कहा गया है कि 'परब्रह्म परमेश्वर से निकला हुआ यह जो कुछ भी सम्पूर्ण जगत् है, उस प्राण स्वरूप परमेश्वर में ही चेष्टा करता है। इस उठे हुए वज्र के समान महान भय स्वरूप (सर्वशक्तिमान्) परमेश्वर को जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं (जन्म-मरण से छूट जाते हैं।)'

इसी के सूत्र (२/३/३) में कहा गया है, 'इसके भय से अग्नि तपता है, सूर्य तपता है, इन्द्र, वायु तथा मृत्यु देवता ये सब अपने-अपने कार्य में दौड़ रहे हैं।' इससे सिद्ध होता है कि वह अंगुष्ठ मात्र पुरुष ब्रह्म ही है।

सूत्र ४० : 'ज्योतिर्दर्शनात्।'

भावार्थ : यहां 'ज्योति' शब्द परब्रह्म का ही वाचक है क्योंकि श्रुति में अनेक स्थलों पर ब्रह्म के अर्थ में 'ज्योतिः' शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (८/३/४) में कहा गया है कि, 'यह जो जीवात्मा है, वह शरीर से निकल कर परम ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है।' इसमें 'ज्योति' शब्द परब्रह्म का ही वाचक है। इसी उपनिषद् (३/१३/७) में कहा गया है, 'इस द्यूलोक से परे जो परम ज्योति प्रकाशित हो रही है।' इसमें भी 'ज्योति' शब्द परमात्मा के ही अर्थ में है।

सूत्र ४१ : 'आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्।'

भावार्थ : वहां आकाश शब्द परब्रह्म का ही वाचक है क्योंकि उसे नाम रूपमय जगत् से भिन्न वस्तु बताया गया है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (८/१४/१) में कहा गया है,

'आकाश नाम से प्रसिद्ध तत्व नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। वे दोनों जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है और वही आत्मा है।' इसमें जिस आकाश को कहा गया है वह भूताकाश तथा जीवात्मा का वाचक नहीं है तथा जीवात्मा भी नाम रूपात्मक जगत् को धारण करने वाला नहीं है। अतः यहाँ 'आकाश' शब्द परब्रह्म का ही वाचक है जो अमृत और आत्मा है।

सूत्र ४२ : 'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन।'

भावार्थ : सुषुप्ति तथा मृत्यु काल में भी जीवात्मा और परमात्मा का भेद पूर्वक वर्णन है। इसलिए 'आकाश' शब्द यहाँ परमात्मा का ही बोधक है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (६/८/१) में कहा गया है कि 'जिस अवस्था में वह पुरुष सोता है, उस समय वह सत् से सम्पन्न होता है।' यह वर्णन सुषुप्ति काल का है। इसमें जीवात्मा का 'पुरुष' नाम से और परमात्मा का 'सत्' नाम से भेद पूर्वक उल्लेख हुआ है। इसी उपनिषद् के (८/३/४) में कहा है, 'यह जीवात्मा इस शरीर से निकलकर परम ज्योति स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो अपने शुद्ध रूप से सम्पन्न हो जाता है।' इस प्रकार आकाश शब्द परब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र ४३ : 'पत्यादि शब्देभ्यः।'

भावार्थ : उस परब्रह्म के लिए श्रुति में पति, परमपति,

परम महेश्वर आदि विशेष शब्दों का प्रयोग होने से भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा और परमात्मा में भेद है।

व्याख्या –श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/७)में कहा गया है कि "ईश्वरों के भी परम महेश्वर, देवताओं के भी परम देवता तथा पतियों के भी परमपति, अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी एवं स्तवन करने योग्य उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा को हम लोग सबसे परे जानते हैं।' इसमें देवता आदि जीवात्मा ही है और परम देवता, परम महेश्वर एवं परम पति नाम से परमात्मा का वर्णन किया गया है। इससे भी सिद्ध होता है कि जीवात्मा और परमात्मा में भेद है।

॥ तीसरा पाद सम्पूर्ण ॥

पहला अध्याय

चौथा पाद

सूत्र १ : 'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च ।'

भावार्थ : यदि कहो अनुमान कल्पित जड़ प्रकृति भी एक शाखा वालों के मत में वेद प्रतिपादित है तो यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि शरीर ही यहाँ रथ के रूप में पड़कर 'अव्यक्त' शब्द से गृहीत होता है। यही बात श्रुति दिखाती भी है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (१/३/११) में जो 'अव्यक्त' शब्द आया है वह सांख्य प्रतिपादित 'प्रकृति' का वाचक नहीं है बल्कि कारण शरीर भगवान की प्रकृति का अंश होने से उसे ही 'अव्यक्त' नाम से कहा है।

सूत्र २ : 'सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ।'

भावार्थ : किन्तु इस प्रकरण में 'शरीर' शब्द से सूक्ष्म शरीर गृहीत होता है क्योंकि परमधाम की यात्रा में रथ के स्थान पर उसी को मानना उचित है।

व्याख्या—यह 'अव्यक्त' परमात्मा की शक्ति रूप प्रकृति सूक्ष्म है जो देखने और वर्णन करने में नहीं आती। उसी का अंश कारण शरीर है अतः उसे 'अव्यक्त' कहना उचित है। परमधाम की यात्रा में यह सूक्ष्म शरीर ही जाता है। इसलिए इसी को 'रथ' कहा गया है।

सूत्र ३ : 'तदधीनत्वादर्थवत्।'

भावार्थ : उस परमात्मा के अधीन होने के कारण वह शक्तिरूपा प्रकृति सार्थक है।

व्याख्या—सांख्य मतावलम्बी प्रकृति को स्वतन्त्र और जगत् का कारण मानते हैं, परन्तु वेद का ऐसा मत नहीं है। वेद में उस प्रकृति को परमेश्वर के ही अधीन रहने वाली उसी की एक शक्ति बताया गया है। शक्ति शक्तिमान से भिन्न नहीं होती, अतः उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता। शक्ति के द्वारा ही परमात्मा सृष्टि की रचना करता है। परमेश्वर में ज्ञान, बल और क्रिया रूप नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं।

सूत्र ४ : 'ज्ञेयत्वावचनाच्च।'

भावार्थ : वेद में प्रकृति को ज्ञेय नहीं बतलाया गया है, इसलिए भी यह सांख्योक्त 'प्रधान' नहीं है।

व्याख्या—सांख्य मत में कहा गया है कि—गुणमयी प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य जान लेने से कैवल्य (मोक्ष) होता है। इस मत से प्रकृति भी ज्ञेय है जिससे जानना आवश्यक है तभी पुरुष से उसका पार्थक्य ज्ञात हो सकता है परन्तु वेद में प्रकृति को ज्ञेय तथा उपास्य कहीं नहीं कहा गया है। केवल परमेश्वर ही ज्ञेय एवं उपास्य है। इससे सिद्ध होता है कि वेदोक्त प्रकृति सांख्य वादियों की प्रकृति (प्रधान) से भिन्न है।

सूत्र ५ : 'वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्।'

भावार्थ : यदि कहो कि वेद प्रकृति को भी ज्ञेय बताता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ ज्ञेय

तत्व परमात्मा ही है। प्रकरण से यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या— कठोपनिषद् (१/३/१५) में जिस तत्व के गुणों का वर्णन किया गया है वे गुण उस परब्रह्म के ही गुण हैं, जड़ प्रकृति के नहीं। उस परब्रह्म को जानकर ही मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है। अतः वह ब्रह्म ही है, प्रकृति नहीं।

सूत्र ६ : **त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च।'**

भावार्थ : इस उपनिषद् में तीन का ही इस प्रकार ज्ञेय रूप में उल्लेख हुआ है तथा इन्हीं तीनों के सम्बन्ध में प्रश्न भी किया गया है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (सूत्र १/१/१३, १/१/२० तथा १/२/१४) में नाचिकेता ने यमराज से अग्नि, जीवात्मा तथा परमात्मा इन्हीं तीनों को जानने के बारे में प्रश्न किया है। इन्हीं तीन प्रश्नों का उत्तर यमराज ने दिया है। इसमें प्रधान (प्रकृति) के विषय में न कोई प्रश्न किया गया है न उत्तर ही है।

सूत्र ७ : 'महद्वच्च।'

भावार्थ : 'महत्' शब्द की भांति ही इसको भी दूसरे अर्थ में लेना अयुक्त नहीं है।

व्याख्या—सांख्य शास्त्र में जिस प्रकार 'महत्' शब्द महत्तत्व के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु कठोपनिषद् में यही शब्द 'आत्मा' के लिए प्रयुक्त हुआ है। कठोपनिषद् (१/३/१०) में कहा गया है—बुद्धि से महान आत्मा पर है।' सांख्य मत में बुद्धि का नाम ही 'महत्तत्व' है जो प्रकृति और पुरुष के संयोग

से सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ है किन्तु यहाँ 'महत्' शब्द जीवात्मा का वाचक है जो बुद्धि से परे है। इसी प्रकार 'अव्यक्त' शब्द का भी अर्थ सांख्य मत से भिन्न है।

सूत्र ८ : 'चमसवद विशेषात्।'

भावार्थ : किसी प्रकार की विशेषता का उल्लेख न होने से, 'चमस' की भाँति उसे दूसरे अर्थ में भी लिया जा सकता है।

व्याख्या—जिस प्रकार 'चमस' शब्द सोमपान के लिए निर्मित पात्र के लिए रूढ़ हो जाने पर भी वृहदारण्यक उपनिषद् (२/२/३) में वह 'शिर' के लिए प्रयुक्त हुआ है उसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में (१/९ तथा ४/५) जो 'अजा' शब्द उस प्रकृति का वाचक नहीं है जिसका सांख्य शास्त्र में प्रकृति नाम से कहा गया है। यह प्रकृति भगवान के अधीन रहने वाली उन्हीं की अभिन्न स्वरूपा अचिन्त्य शक्ति है। सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्र है' दोनों में यही अन्तर है। सूत्र १/९ में यह भी कहा गया है कि "जब मनुष्य ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों को ब्रह्म रूप में प्राप्त कर लेता है तब वह मुक्त हो जाता है।" सांख्य मत में प्रकृति को ब्रह्मरूप नहीं, उससे भिन्न माना है, यही अन्तर है।

सूत्र ९ : 'ज्योति रूपक्रमा तु तथा ह्यधियित एके।'

भावार्थ : निश्चय ही यहाँ 'अजा' शब्द तेज आदि त्रिविध तत्वों की कारण भूता परमेश्वर की शक्ति का वाचक है क्योंकि एक शाखा वाले ऐसा ही वर्णन करते हैं।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/३-४) में परमेश्वर

से उत्पन्न तेज आदि तत्वों से जगत् के विस्तार का वर्णन है। इसी उपनिषद् (६/४/१-७) में कहा गया है कि उसी परमेश्वर ने सर्व प्रथम 'तेज' को रचा, तेज से जल और जल से अन्न की उत्पत्ति कही गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१/१०) में भी प्रकृति (प्रधान) को स्वतन्त्र नहीं माना है। भगवान की शक्ति रूप अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति (जीवात्मा) इन दोनों पर शासन करने वाला परम पुरुष परमेश्वर को बताया गया है। इसी में १/१२ में कहा है कि भोक्ता, (जीवात्मा) भोग्य (प्रकृति), और उन दोनों का प्रेरक ईश्वर इन तीनों रूपों को ब्रह्म ही बताया गया है। इस प्रकार 'अजा' शब्द प्रकृति (प्रधान) का वाचक होने पर भी सांख्य मत वालों की प्रकृति के समान स्वतन्त्र नहीं है बल्कि परमात्मा की ही अभिन्न शक्ति है जो उसके अधीन रहने वाली है।

सूत्र १० : 'कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः।'

भावार्थ : यहाँ 'अजा' का रूपक मानकर उसके विविध रूप का कल्पना पूर्वक उपदेश किया गया है। इसलिए भी मधु आदि की भाँति कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार अन्य उपनिषदों में सूर्य को मधु, वाणी को धेनु तथा द्यूलोक को अग्नि कहा गया है उसी प्रकार यहाँ भी भगवान की शक्ति रूपा प्रकृति को भी रूपक के रूप में 'अजा' कह कर इसके लाल, सफेद और काले तीन रंग बताये हैं जो तेज, जल और अन्न के ही रंग हैं। इसलिए कोई विरोध नहीं है।

सूत्र ११ : 'न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च।'

भावार्थ : श्रुति में संख्या का ग्रहण होने से भी वह सांख्य-मतोक्त तत्वों की गणना नहीं है क्योंकि वह संख्या अनेक प्रकार के भाव व्यक्त करने वाली है तथा वहां उससे अधिकता का भी वर्णन है।

व्याख्या—बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/१७) में जो संख्या वाचक 'पंच-पंच' शब्द आये हैं इनको लेकर पच्चीस तत्वों की कल्पना करना उचित नहीं है क्योंकि इसमें आकाश और आत्मा को लेकर सत्ताइस तत्व हो जाते हैं। अतः सांख्य मत में वर्णित पच्चीस तत्वों से इसका अर्थ नहीं है बल्कि ये उस परमेश्वर की अनादि कार्य शक्तियों का वर्णन है। सांख्य के प्रधान से इसका सम्बन्ध नहीं है।

सूत्र १२ : 'प्राणादयो वाक्यशेषात्।'

भावार्थ : बाद वाले मंत्र में कहे हुए वाक्य से यहां प्राण और इन्द्रियाँ ही ग्रहण करने योग्य हैं।

व्याख्या—इसी उपनिषद् का मन्त्र (४/४/१८) में प्राण, चक्षु, श्रोत तथा मन के ऊपर के पुराण पुरुष का वर्णन है जिसमें पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि आदि परमेश्वर की कार्य शक्तियों का वर्णन है जो ब्रह्म की ही शक्तियाँ हैं। उन्हीं का वर्णन है।

सूत्र १३ : 'ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने।'

भावार्थ : एक शाखा वालों के पाठ में अन्न का वर्णन न होने पर पूर्व वर्णित 'ज्योतिष' के द्वारा संख्या पूर्ति की जा सकती है।

व्याख्या—माध्यन्दिनी शाखा वालों के पाठ में 'अन्न' शब्द का प्रयोग होने से यहा पाँच की संख्या पूर्ण हो जाती है

(प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्न)। किन्तु काण्व शाखा वालों ने अन्न के बजाय 'ज्योति' शब्द का वर्णन किया है जिससे यह पाँच की संख्या पूरी हो जाती है।

सूत्र १४ : **'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः।'**

भावार्थ : आकाश आदि किसी भी क्रम से रचे जाने वाले पदार्थों में कारण रूप से तो सर्वत्र एक ही वेदांत वर्णित ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए परब्रह्म ही जगत् का कारण है।

व्याख्या—श्रुतियों में सृष्टि रचना का क्रम विभिन्न क्रम से बताया गया है जैसे कहीं आकाश से, कहीं प्राण से, कहीं तेज से। किन्तु सब में ब्रह्म को ही जगत् का कारण बताया गया है जो इन सबका कारण है।

सूत्र १५ : **'समाकर्षात्।'**

भावार्थ : आगे पीछे कहे हुए वाक्य का पूर्ण रूप से आकर्षण करके उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेने से 'असत्' आदि शब्द ब्रह्म के ही वाचक सिद्ध होते हैं।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् (२/७) एवं छान्दोग्य उपनिषद् (३/१९/१) में कहा गया है कि पहले 'असत्' ही था, इसी से 'सत्' उत्पन्न हुआ। यहाँ असत् का अर्थ मिथ्या या अभाव नहीं है बल्कि यह 'अप्रकट ब्रह्म' का वाचक है। वृहदारण्यक उपनिषद् में 'असत्' के स्थान पर 'अव्याकृत' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ 'अप्रकट ब्रह्म' ही है। इस प्रकार सबका कारण वह ब्रह्म ही है।

सूत्र १६ : **'जगद्वाचित्वात्।'**

भावार्थ : सृष्टि या रचना रूप कर्म जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का वाचक है। इसलिए चेतन परमेश्वर ही इसका कर्ता है, जड़ प्रकृति नहीं।

व्याख्या—यह सम्पूर्ण सृष्टि जड़ चेतनात्मक है। पुरुष वाच्य जीवात्मा तथा उनके अधिष्ठान भूत जड़ शरीर दोनों ही उस ब्रह्म का कर्म है। जड़ से चेतन की उत्पत्ति संभव नहीं है इसलिए वह ब्रह्म ही इन दोनों का कारण है ऐसा कौषतकि ब्राह्मणोपनिषद् में अजात शत्रु ने बालाकि से(४/२)में कहा है।

सूत्र १७ : 'जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम्।'

भावार्थ : यदि ऐसा कहो कि उस प्रसंग के वाक्य शेष में जीव तथा मुख्य प्राण के बोधक लक्षण पाये जाते हैं इसलिए प्राण सहित जीव ही ज्ञेय तत्व होना चाहिए, ब्रह्म यहां ज्ञेय नहीं है, इसका निराकरण पहले किया जा चुका है।

व्याख्या—प्राण और जीव ज्ञेय नहीं हो सकते। इससे त्रिविध उपासना का प्रसंग उपस्थित हो सकता है। इसलिए एक ब्रह्म ही ज्ञेय है। इसका निराकरण पहले सूत्र १/१/३१ में किया जा चुका है।

सूत्र १८ : 'अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके।'

भावार्थ : आचार्य जैमिनि तो कहते हैं कि इस प्रकरण में जीवात्मा तथा मुख्य प्राण का वर्णन दूसरे ही प्रयोजन से है। क्योंकि प्रश्न और उत्तर से यही सिद्ध होता है तथा एक शाखा (काण्व) वाले ऐसा कहते भी हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनी का कथन है कि यहाँ जीवात्मा और प्राण जिस प्रकार निद्रा के समय परमात्मा में विलीन सा हो जाता है उसी प्रकार प्रलय काल में यह जड़-चेतनात्मक जगत् परब्रह्म में विलीन हो जाता है तथा सृष्टि काल में जाग्रत की भाँति पुनः प्रकट हो जाता है। ऐसा इसका भाव है। अतः ब्रह्म ही जगत का कारण है।

सूत्र १९ : 'वाक्यान्वयात्।'

भावार्थ : पूर्वा पर वाक्यों के समन्वय से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—पूर्वापर प्रसंग से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा और प्राण का वर्णन भी उस परब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करने के लिए ही है।

सूत्र २० : 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः।'

भावार्थ : उक्त प्रकरण में जीवात्मा और मुख्य प्राण के लक्षणों का वर्णन ब्रह्म को ही जगत् का कारण बताने के लिए हुआ है क्योंकि ऐसा मानने से ही पहले की हुई प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है। ऐसा अश्मरथ्य आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—आचार्य अश्मरथ्य का मानना है कि अजात शत्रु ने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि, 'तुझे ब्रह्म का स्वरूप बताऊंगा।' इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही जगत् का कारण है।

सूत्र २१ : 'उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमि।'

भावार्थ : शरीर छोड़कर परलोक में जाने वाले ब्रह्मज्ञानी का इस प्रकार ब्रह्म में विलीन होना दूसरी श्रुति

में भी बताया है। इसलिए वहां जीवात्मा और मुख्य प्राण का वर्णन परब्रह्म को ही जगत् का कारण बताने के लिए है। ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (३/२/७-८) में बताया गया है कि, ब्रह्मज्ञानी पुरुष का जब देहपात हो जाता है तो उनके समस्त कर्म और विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म में एक हो जाते हैं।' इसमें जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण केवल परब्रह्म ही है ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

सूत्र २२ : 'अवस्थितेरेति काशकृत्स्नः।'

भावार्थ : प्रलय काल में सम्पूर्ण जगत् की स्थिति उस पर-ब्रह्म में ही होती है, इसलिए परब्रह्म हो जगत् का कारण है। ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं।

व्याख्या— प्रश्नोपनिषद् (४/११) में कहा गया है कि—जिसमें समस्त प्राण और पाँचों भत तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, अंतःकरण के सहित विज्ञान स्वरूप आत्मा आश्रय लेते हैं, हे प्रिय! उस अविनाशी परमात्मा को जो कोई जान लेता है वह सर्वज्ञ है, वह सर्व स्वरूप परमेश्वर में प्रविष्ट हो जाता है।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि जगत् का कारण परब्रह्म ही है।

सूत्र २३ : 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।'

भावार्थ : उपादान कारण भी ब्रह्म ही है क्योंकि ऐसा मानने से ही श्रुति में आये हुये 'प्रतिज्ञा' वाक्य तथा 'दृष्टान्त' वाक्य बाधित नहीं होते।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/१/२-३ तथा ६/१/४),

मुण्डकोपनिषद् (१/१/२ तथा १/१/७) तथा बृहदारण्यक उप-निषद् (४/५/६-८) में प्रतिज्ञा वाक्य तथा दृष्टान्त वाक्य मिलते हैं जिनमें यही सिद्ध किया गया है कि सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म ही है, प्रकृति नहीं। वेदान्त में वर्णित प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जैसा सांख्यवादी मानते हैं बल्कि वह परमात्मा में रहने वाली उन्हीं की शक्ति विशेष है श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी (६/८) ज्ञान, बल और क्रिया रूप नाना प्रकार की दिव्य शक्तियों का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि उस परमेश्वर की शक्ति उससे भिन्न नहीं है। यह उसका स्वभाव ही है। गीता (९/१०) में भी प्रकृति को सांख्य मत की भाँति उपादान कारण नहीं बताया गया है वल्कि अपनी ही स्वरूप भूता कहा है जो जगत् की उत्पत्ति का कारण है। जड़ प्रकृति जड़ और चेतन दोनों का उपादान कारण नहीं हो सकती। अन्य स्मृतियों में भी परब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण माना है।

सूत्र २४ : 'अभिध्योपदेशाच्च।'

भावार्थ : चिन्तन अर्थात संकल्प से सृष्टि रचना का श्रुति में वर्णन होने से भी यही सिद्ध होता है कि जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही है।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/६) में कहा गया है कि 'उसने संकल्प किया कि मैं एक ही बहुत हो जाऊँ, अनेक रूपों में प्रकट हो जाऊँ।' छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/३) में भी ऐसा ही कहा गया है। इससे सिद्ध होता है परब्रह्म ही सृष्टि का उपा-दान कारण है, इससे भिन्न प्रकृति नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् (३/४/१) में कहा है, 'निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है।' इससे भी यही सिद्ध होता है।

सूत्र २५ : 'साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।'

भावार्थ : श्रुति साक्षात् अपने वचनों द्वारा भी ब्रह्म के उपादान और निमित्त दोनों कारण होने की बात दुहराती है इससे भी ब्रह्म ही उपादान कारण सिद्ध होता है, प्रकृति नहीं ।

व्याख्या—श्वेताश्वतर उपनिषद् (१/१-२) में स्पष्ट किया गया है कि 'वह परमेश्वर अकेला ही समस्त कारणों पर शासन करता है ।' इसलिए वही उपादान एवं निमित्त कारण है ।

सूत्र २६ : 'आत्मकृतेः ।'

भावार्थ : स्वयं अपने को जगत् रूप में प्रकट करने का वर्णन होने से भी ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण सिद्ध होता है ।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् (२/७) में कहा गया है कि 'प्रकट होने से पहले यह जगत् अव्यक्त रूप में था, उससे ही यह प्रकट हुआ है । उस परब्रह्म ने स्वयं अपने को ही इस जगत् के रूप में प्रकट किया ।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म ही निमित्त और उपादान कारण है ।

सूत्र २७ : 'परिणामात् ।'

भावार्थ : श्रुति में उसके जगत् रूप में परिणत होने का वर्णन होने से यही मानना चाहिए कि ब्रह्म ही जगत् का कर्ता है ।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् (२/६) में कहा गया है कि 'उस जगत् की रचना करके वह स्वयं उसमें जीव के साथ प्रविष्ट हो गया ।' इससे भी सिद्ध होता है कि उसी की शक्तियों

से विश्व की रचना होती है तथा वह स्वयं शक्तिमान के रूप में उसमें निहित रहता है।

सूत्र २८ : 'योनिश्च ही गीयते।'

भावार्थ : क्योंकि वेदान्त में ब्रह्म को योनि भी कहा गया है। इसलिए ब्रह्म ही उपादान कारण है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/१/३ तथा ३/१/६) में उस ब्रह्म को ब्रह्मा की योनि तथा समस्त प्राणियों की योनि (उपादान कारण) कहा गया है तथा आगे (१/१/७) कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से ही जाला निकालती है उसी प्रकार ब्रह्म से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। भिन्न कारण से नहीं।

सूत्र २९ : 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः।'

भावार्थ : इस विवेचन से सभी पूर्व पक्षियों के प्रश्नों का उत्तर दे दिया गया है, उत्तर दे दिया गया है।

व्याख्या—इस प्रकार सभी मतों का उत्तर देते हुए यही सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है, प्रकृति नहीं।

दूसरा अध्याय : अविरोधाध्याय

पहला पाद

सूत्र १ : 'स्मृत्यनवकाशदोष प्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाश-दोष प्रसंगात् ।'

भावार्थ : यदि कहो 'प्रधान' को जगत् का कारण न मानने से सांख्य स्मृति को मान्यता न देने का दोष उपस्थित होगा तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उसको मान्यता देने पर दूसरी अनेक स्मृतियों को मान्यता न देने का दोष आता है ।

व्याख्या—यहाँ यह शंका उपस्थित की गई है कि 'प्रधान' को जगत् का कारण न मानकर 'ब्रह्म' को ही एक मात्र कारण मानने से सांख्य शास्त्र की उपेक्षा होती है जो 'प्रधान' (प्रकृति) को ही जगत् का कारण मानता है । इस विषय में ग्रन्थकार अपना समाधान देते हैं कि इस विषय में जो वेदानुकूल स्मृतियाँ हैं वे ही प्रमाण हैं । साँख्य वेदानुकूल नहीं होने से मान्य नहीं है । अन्य स्मृतियों जैसे गीता, विष्णु पुराण, मनुस्मृति आदि में जगत् की उत्पत्ति परमात्मा से ही बताई गई है । यदि विरोध दिखाई दे तो श्रुति को ही प्रमाण मानना चाहिए, वेद और स्मृति में वेद ही बलवान है ।

सूत्र २ : 'इतरेषां चानुपलब्धे ।'

भावार्थ : तथा अन्य स्मृतिकारों के मत में 'प्रधान' कारण वाद' की उपलब्धि नहीं होती । इसलिए भी

प्रधान को जगत् का कारण न मानना ही उचित है।

व्याख्या—अन्य स्मृतियों में कहीं भी सांख्य शास्त्र के अनुसार 'प्रधान' को जगत् का कारण नहीं माना गया है। इसलिए सांख्य शास्त्र को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

सूत्र ३ : 'एतेन योगः प्रत्युक्तः।'

भावार्थ : इस पूर्वोक्त विवेचन से योग शास्त्र का भी प्रत्युत्तर हो गया।

व्याख्या—सांख्य मत की भाँति ही पातंजल योग दर्शन भी जड़ प्रकृति को सृष्टि का कारण मानता है अतः पूर्व सूत्र से इसका भी निराकरण हो गया कि इसका यह मत भी अमान्य है क्योंकि यह भी वेद विरुद्ध है।

सूत्र ४ : 'न विलक्षण त्वादस्य तथात्वं च शब्दात्।'

भावार्थ : चेतन-ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है क्योंकि यह कार्य रूप जगत् उस कारण से विलक्षण (जड़) है और उसका जड़ होना शब्द (वेद) प्रमाण से सिद्ध है।

व्याख्या—इसमें सांख्य मत को मान्यता देने के पक्ष में कहा गया है कि वह चेतन ब्रह्म जड़ जगत् का कारण कैसे हो सकता है जो चेतन से विलक्षण है। कारण से कार्य का विलक्षण होना युक्तिसंगत नहीं है। इसलिए अचेतन (जड़) जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता।

सूत्र ५ : 'अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्।'

भावार्थ : किन्तु वहाँ तो उन-उन तत्वों के अभिमानी

देवताओं का वर्णन है। यह बात विशेष शब्दों के प्रयोग से तथा उन तत्वों में देवताओं के प्रवेश का वर्णन होने से सिद्ध होती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/३/२) तथा ऐतरेयोपनिषद् (१/२/४) में तेज, अग्नि, वायु आदि तत्वों में उनके अभिमानी देवताओं का चेतन के जैसा वर्णन हुआ है। इसलिए ब्रह्म को जड़-जगत् का उपादान कारण बताना ठीक नहीं है। क्योंकि इनके लक्षण चेतन से सर्वथा भिन्न हैं।

सूत्र ६ : 'दृश्यते तु।'

भावार्थ : किन्तु श्रुति में उपादान से विलक्षण वस्तु की उत्पत्ति का वर्णन भी देखा गया है। अतः ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानना अनुचित नहीं है।

व्याख्या—उपरोक्त सूत्र में उठाई गई शंका का यहाँ समाधान किया गया है कि जिस प्रकार मनुष्य के नख, लोम आदि विलक्षण वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार चेतन ब्रह्म से जड़ जगत् की उत्पत्ति होती है (मुण्डक उप० १/१/७) चेतन से जड़ की उत्पत्ति संभव है।

सूत्र ७ : 'असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्।'

भावार्थ : यदि कहो ऐसा मानने से असत्कार्यवाद अर्थात् जिसकी सत्ता नहीं है ऐसी वस्तु की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा, तो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वहां 'असत्' शब्द प्रतिषेध मात्र का अर्थात सर्वथा अभाव का बोधक है।

व्याख्या—यहाँ फिर यह शंका उपस्थित की गई है कि,

'असत्' (जिसकी सत्ता ही नहीं है) से 'सत्' की उत्पत्ति कैसे संभव है? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि 'असत्' का अर्थ अभाव नहीं है। सर्व शक्तिमान् परब्रह्म में यह समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् शक्ति रूप में अप्रकट रूप से विद्यमान रहता है। उसी का संकल्प के कारण प्रकट होना माना गया है। इसलिए यह शंका उचित नहीं है। यहाँ 'असत्' अप्रकट का बोधक है।

सूत्र ८ : 'अपीतौ तद्वत्प्रसंगाद समजंसम्।'

भावार्थ : ऐसा मानने पर प्रलय काल में ब्रह्म को उस संसार के जड़त्व और सुख दुःखादि धर्मों से युक्त मानने का प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिए उपर्युक्त मान्यता युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या—यहाँ फिर शंका उपस्थित की गई है कि यदि प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में विद्यमान रहता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें जड़त्व एवं सुख-दुःख आदि धर्म विद्यमान है जबकि ब्रह्म को निर्विकार, निर्गुण, एवं सर्वथा शुद्ध बताया गया है।

सूत्र ९ : 'न तु दृष्टान्तभावात्।'

भावार्थ : निःसन्देह पूर्व सूत्र में बताए हुए दोष नहीं है क्योंकि ऐसे बहुत से दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं जिनसे कारण में कार्य के विलीन हो जाने पर भी उसमें कार्य के धर्म नहीं रहने की बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि कार्य के कारण में विलीन हो जाने पर उसके धर्म भी उसमें विलीन हो

जाते हैं। जैसे आभूषण को गलाने पर स्वर्ण में आभूषण के धर्म नहीं रहते, घड़े के फूटने पर उस मिट्टी में घड़े के धर्म नहीं रहते। इसी प्रकार प्रलयकाल में जगत् के ब्रह्म में विलीन होने पर उसमें जगत् के धर्म नहीं रहते।

सूत्र १० : 'स्वपक्षदोषाच्च।'

भावार्थ : वादी के अपने पक्ष में उपर्युक्त सभी दोष आते हैं, इसलिए भी प्रधान को जगत् का कारण मानना ठीक नहीं है।

व्याख्या—सांख्यवादी भी मानते हैं कि कार्य के कारण में विलीन होने पर कार्य के धर्म उसमें नहीं रहते। शब्द, स्पर्श आदि कार्य के धर्मों का अभाव हो जाता है। अतः प्रधान को जगत् का कारण मानना उचित नहीं है।

सूत्र ११ : 'तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्ष प्रसङ्ग।'

भावार्थ : यदि ऐसा कहो कि तर्कों की स्थिरता न होने पर भी दूसरे प्रकरण के अनुमान के द्वारा कारण का निश्चय करना चाहिए, तो ऐसी स्थिति में भी मोक्ष न होने का प्रसंग आ जायेगा।

व्याख्या—यहाँ एक और शंका उपस्थित की गई है कि तर्क से किसी तथ्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि हर व्यक्ति अपना तर्क देकर अपने मत को ही सिद्ध करना चाहता है। इसलिए तर्क में स्थिरता नहीं होती। इसलिए अनुमान के द्वारा ही जगत् के कारण को सिद्ध करना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वेद विरुद्ध कोई भी अनुमान

ठीक नहीं है। इससे तत्वज्ञान नहीं होता और तत्वज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता।

सूत्र १२ : 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः।'

भावार्थ : इस पूर्व निरुपित सिद्धान्त से शिष्ट पुरुषों द्वारा अस्वीकृत अन्य सभी मतों का भी प्रतिवाद कर दिया गया है।

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्रों में सांख्य मतावलम्बियों की शंकाओं का निराकरण करके वैदिक मान्यताओं का प्रतिपादन किया गया है इससे अन्य जितने भी वेद विरुद्ध मान्यताएँ या मत हैं उनका भी निराकरण हो जाता है जो शिष्ट पुरुषों को मान्य नहीं है।

सूत्र १३ : 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्।'

भावार्थ : यदि कहो ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में उसमें भोक्तापन का प्रसंग आ जायेगा इसलिए जीव और ईश्वर का विभाग सिद्ध नहीं होगा। उसी प्रकार जीव और जड़-वर्ग का भी परस्पर विभाग सिद्ध नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि लोक में जैसे विभाग देखा जाता है वैसे हो सकता है।

व्याख्या—ब्रह्म दृष्टा मात्र है, जीव भोक्ता है तथा जड़-वर्ग भोग्य है। यदि ब्रह्म को ही एक मात्र जगत् का कारण मान लें तो उसमें भी भोक्तापन एवं भोग्य का विभाग नहीं किया जा सकता, ऐसी शंका होती है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि यह विभाग बाद में पैदा होता है। ब्रह्म में ऐसा विभाग नहीं है। जिस प्रकार पिता से उत्पन्न पुत्र अपने

कर्मों का फल स्वयं भोगता है, पिता नहीं भोगता इसी प्रकार ब्रह्म जगत् की रचना करके भी स्वयं सुख-दु:ख का भोक्ता नहीं होता ।

सूत्र १४ : 'तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः ।'

भावार्थ : आरम्भण शब्द आदि हेतुओं से उसकी अर्थात् कार्य की कारण से अनन्यता सिद्ध होती है ।

व्याख्या—श्रुतियों में सर्वत्र यही कहा गया है कि यह जगत् प्रकट होने से पहले ब्रह्म की शक्ति रूप से ब्रह्म ही था । इस शक्ति का जब प्रकटीकरण हुआ तो यह जगत् भासने लगा । जिस प्रकार घड़ा एवं आभूषण की आकृति से पूर्व मिट्टी एवं स्वर्ण ही मूल तत्व है ऐसा ही ब्रह्म है । गीता (७/५) में इसे 'अपरा' और 'परा' प्रकृति कहा गया है जो समस्त जड़ चेतनात्मक जगत् का कारण है । ये शक्तियाँ उसी एक ब्रह्म की हैं । इस प्रकार कर्म एवं कारण से अनन्यता है ।

सूत्र १५ : 'भावे चोपलब्धे ।'

भावार्थ : कारण में शक्ति रूप से कार्य की सत्ता होने पर ही उसकी उपलब्धि होती है । इसलिए यह सिद्ध होता है कि यह जगत् अपने कारण ब्रह्म में शक्ति रूप से सदैव विद्यमान है ।

व्याख्या—शून्य से किसी की उपलब्धि नहीं होती । यह सम्पूर्ण जगत् अप्रकट रूप से, शक्ति रूप में उस ब्रह्म में विद्यमान है जिससे इसकी रचना होती है, अन्यथा असंभव है । यदि यह शक्ति रूप से पूर्व में विद्यमान ही नहीं होता तो इसका प्रकटीकरण संभव ही नहीं होता । बीज में सम्पूर्ण वृक्ष की सत्ता

विद्यमान होने से ही उसका विकास होता है अन्यथा संभव नहीं है।

सूत्र १६ : 'सत्वाच्चावरस्य।'

भावार्थ : कार्य का सत् होना श्रुति में कहा गया है। इससे भी प्रकट होने से पहले उसका होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—यह जगत् प्रलय काल में शक्ति रूप से विद्यमान रहता है तथा सृष्टि रचना काल में यही शक्ति जड़-चेतन रूप में प्रकट होती है। इसलिए श्रुति कहती है कि यह जगत् प्रकट होने से पहले भी सत् ही था। छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/१) तथा वृहदारण्यक उपनिषद् (१/४/७) में यही कहा गया है।

सूत्र १७ : 'असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्य शेषात्।'

भावार्थ : यदि कहो दूसरी श्रुति में उत्पत्ति के पहले इस जगत् को 'असत्' बतलाया है इसलिये कार्य का कारण में पहले से ही विद्यमान होना सिद्ध नहीं होता, तो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वैसा कहना धर्मान्तर की अपेक्षा से है। यह बात अन्तिम वाक्य से सिद्ध होती है।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/७) में कहा गया है कि 'यह सब पहले 'असत्' ही था, इसी से 'सत्' उत्पन्न हुआ।' यहाँ 'असत्' का अर्थ अविद्यमान नहीं है बल्कि 'अप्रकट' है तथा 'सत्' का अर्थ प्रकट होना है। अप्रकट से प्रकट होना ही उसका धर्मान्तर है। यह छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/१ एवं ६/२/२) के अन्तिम शब्द से स्पष्ट हो जाता है कि यह 'असत्'

अभाव रूप नहीं बल्कि 'सत्' ही था जो अप्रकट होने से 'असत्' कहा गया है।

सूत्र १८ : 'युक्तेः शब्दान्तराच्च।'

भावार्थ : युक्ति से तथा दूसरे शब्दों से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—जो वस्तु वास्तव में नहीं होती उसका उत्पन्न होना भी नहीं देखा जाता। इसलिए यही सिद्ध होता है कि यह जगत् प्रकट होने से पहले भी 'सत्' ही था किन्तु अप्रकट अवस्था में था।

सूत्र १९ : 'पटवच्च।'

भावार्थ : सूत में वस्त्र की भाँति भी ब्रह्म में यह जगत् पहले से ही स्थित है।

व्याख्या—जिस प्रकार सूत में कपड़ा दिखाई नहीं देता किन्तु वह कपड़ा सूत के बिना नहीं बन सकता। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् रहता है—अप्रकट अवस्था में तथा उसी का प्रकट रूप यह दृश्य जगत् है।

सूत्र २० : 'यथा च प्राणादि।'

भावार्थ : तथा जैसे प्राण और इन्द्रियां स्थूल शरीर से बाहर निकलने पर ही दीखती हैं तो भी उनकी सत्ता अवश्य रहती है। इसी प्रकार प्रलय काल में भी अव्यक्त रूप से जगत् की स्थिति अवश्य है।

व्याख्या—जिस प्रकार मृत्यु के उपरान्त प्राण और इन्द्रियाँ जीवात्मा के साथ शरीर से बाहर सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते

हैं उसी प्रकार प्रलय काल में यह जगत् सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। सत्ता का कभी नाश नहीं होता, उसका रूपान्तरग मात्र होता है।

सूत्र २१ : 'इतरव्यपदेशाद्धिता करणादिदोष प्रसक्तिः।'

भावार्थ : ब्रह्म ही जीव रूप से उत्पन्न होता है, ऐसा कहने से ब्रह्म में अपना हित न करने या अहित करने आदि का दोष आ सकता है।

व्याख्या—यहाँ यह शंका उपस्थित की गई है कि यदि वह ब्रह्म स्वयं ही जीव बनकर सुख-दुःख का भोक्ता हो जाता है तो वह स्वयं अपना अहित क्यों करता है? इसलिए ब्रह्म को जगत् का कारण मानना उचित नहीं है।

सूत्र २२ : 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्।'

भावार्थ : किन्तु ब्रह्म जीव नहीं है अपितु उससे अधिक हैं क्योंकि जीवात्मा से ब्रह्म का भेद बताया गया है।

व्याख्या—श्रुतियों में ब्रह्म और जीव का भेद बतलाया गया है इनमें ब्रह्म का स्वरूप जीव से अधिक है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव ईश्वर के अधीन है, परमात्मा उसका शासक एवं स्वामी है, वह प्रकृति का भी स्वामी है, ब्रह्म जानने योग्य है, जीवात्मा जानने वाला है आदि भेद हैं। 'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि कह कर दोनों की अनन्यता बताई गई है कि परमेश्वर कारण है व जीव उसका कार्य है। यह उसी की शक्ति का विस्तार है। इसलिए दोनों अभिन्न होते हुए भी भेद स्पष्ट है। घड़े में मिट्टी के गुण हैं किन्तु मिट्टी में घड़े के गुण नहीं हैं। दोनों अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं।

सूत्र २३ : 'अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः।'

भावार्थ : तथा जड़ पत्थर आदि की भांति अल्पज्ञ जीवात्मा भी ब्रह्म से भिन्न है इसलिए जीवात्मा और परमात्मा का अत्यन्त अभेद नहीं सिद्ध होता।'

व्याख्या-- इसे सिद्ध करने के लिए दूसरी युक्ति दी गई है कि वह ब्रह्म 'अपरा' प्रकृति (जड़ पदार्थ—पत्थर, लोहा आदि) से भिन्न है उसी प्रकार वह 'परा' प्रकृति (चेतन प्रकृति) जीव से भी भिन्न है किन्तु वही दोनों का कारण होने से उसे अभिन्न कहा गया है। वह हित-अहित से ऊपर है। वह स्वयं अपना अहित नहीं करता। वह समस्त जगत् का कारण होते हुए भी इनसे श्रेष्ठ एवं विलक्षण है।

सूत्र २४ : 'उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि।'

भावार्थ : यदि कहो लोक में घट आदि बनाने के लिए साधन सामग्री का संग्रह देखा जाता है किन्तु ब्रह्म के पास कोई साधन नहीं है, इसलिए ब्रह्म जगत् का कर्ता नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि दूध की भांति ब्रह्म को अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार लोक में घड़ा, वस्त्र आदि बनाने के लिए अन्य बाह्य सामग्री की आवश्यकता होती है किन्तु ब्रह्म के लिए अन्य सामग्री न होने से वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता, ऐसी शंका प्रकट की जाती है। किन्तु इसका निराकरण इस प्रकार होता है कि जैसे दूध दही में परिवर्तित हो जाता है तथा मकड़ी बिना बाह्य साधनों के ही जाला बुन लेती है उसी प्रकार ब्रह्म अपनी ही शक्ति से सृष्टि का विस्तार करता

है। यह निर्माण सामग्री बाहर से नहीं लेता बल्कि अपनी ही शक्ति से प्रकट करता है।

सूत्र २५ : **'देवादिवदार्य लोके।'**

भावार्थ : लोक में देवता आदि की भांति बिना उपकरण के भी कार्य करने की शक्ति देखी जाती है।

व्याख्या—जिस प्रकार इस लोक में देवता, योगी आदि अपनी ही शक्ति से विचित्र वस्तुओं का निर्माण कर लेते हैं उसी प्रकार ब्रह्म की असीम शक्ति इनका निर्माण स्वयं ही करती है। बाह्य उपकरण आवश्यक नहीं हैं।

सूत्र २६ : **'कृत्स्न प्रसक्तिर्निखयवत्व शब्दकोपो वा।'**

भावार्थ : **ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर वह पूर्ण रूप से जगत् के रूप में परिणत हो गया, ऐसा मानने का दोष उपस्थित होगा, अथवा उसको अवयव रहित बनाने वाले श्रुति के शब्दों से विरोध होगा।**

व्याख्या—ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में दो दोष उपस्थित होंगे। पहला यह कि वह स्वयं पूर्ण रूप से जगत् रूप में परिणत हो गया होगा। फिर उसकी अलग सत्ता ही नहीं रही। दूसरा वह यदि अवयव रहित है तो सृष्टि रचना कैसे संभव है? श्रुतियों में उसे अवयव रहित कहा गया है। सावयव कहने पर श्रुति वाक्यों में विरोध होगा।

सूत्र २७ : 'श्रुतेस्तु **शब्दमूलत्वात्।'**

भावार्थ : **किन्तु यह दोष नहीं आता क्योंकि श्रुति से यह सिद्ध है कि ब्रह्म जगत् का कारण होते हुए भी**

निर्विकार रूप से स्थित है। ब्रह्म का स्वरूप कैसा है? इसके लिए वेद ही प्रमाण है। वेद जैसा कहते हैं वैसा ही उसका स्वरूप मानना चाहिए।

व्याख्या—उपर्युक्त शंका का यही समाधान है कि ब्रह्म के स्वरूप के विषय में वेद ही प्रमाण है। श्रुतियों में उसे जगत् का कारण माना गया है इसलिए यही मानना उचित है कि वह जगत् का कारण होते हुए भी निर्विकार रूप से स्थित है तथा अवयव रहित होते हुए भी जगत् का अभिन्न निमित्त और उपादान कारण है। वह सम्पूर्ण रूप से जगत् में परिणत नहीं होता। यह सारा ब्रह्माण्ड उसके एक पाद में स्थित है। शेष तीन पाद परमधाम में स्थित है (धा० उ० ३/१२/६) इसलिए पूर्व शंका निराधार है।

सूत्र २८ : 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि।'

भावार्थ : इसके सिवा युक्ति से भी इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि अवयव रहित जीवात्मा में भी ऐसी विचित्र सृष्टियाँ देखी जाती हैं।

व्याख्या—उपर्युक्त श्रुति प्रमाण के अलावा युक्ति से भी समझा जा सकता है कि स्वप्नावस्था में जीवात्मा जिन विचित्र सृष्टियों को देखता है वे सब अवयव रहित ही हैं तो अवयव रहित ब्रह्म सृष्टि की रचना क्यों नहीं कर सकता।

सूत्र २९ : 'स्वपक्षदोषाच्च।'

भावार्थ : उनके अपने पक्ष में ही उक्त दोष आता है। इसलिए भी परब्रह्म परमेश्वर को ही जगत् का कारण मानना उचित है।

व्याख्या - सांख्यमत वाले भी प्रधान को न तो सीमित

मानते हैं न सावयव। इसलिए ये दोष तो उनमें भी आते हैं। इसलिए ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

सूत्र ३० : 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्।'

भावार्थ : इसके सिवा वह परा देवता (परब्रह्म) सब शक्तियों से सम्पन्न है क्योंकि श्रुति के वर्णन में ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (३/१४/२) तथा मुण्डक उपनिषद् (१/१/६) आदि में परब्रह्म को सभी शक्तियों से सम्पन्न बताया गया है। ये शक्तियाँ ही जगत् रूप में प्रकट होती हैं जिनमें ज्ञान, बल और क्रिया रूपी शक्तियाँ ही जगत् का कारण बनती हैं। इसलिए ब्रह्म को कारण मानना उचित है।

सूत्र ३१ : 'विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्।'

भावार्थ : श्रुति में उस परमात्मा को मन और इन्द्रियों आदि से रहित बताया गया है इसलिए वह जगत् का कारण नहीं है। यदि ऐसा कहो तो इसका उत्तर दिया जा चुका है।

व्याख्या—श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/८) में ब्रह्म को शरीर, बुद्धि, मन, और इन्द्रिय आदि कारणों से रहित बताया गया है इसलिए वह जगत् का रचयिता नहीं हो सकता, ऐसा कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसका उत्तर परब्रह्म को सर्व शक्तिमान बताकर पूर्व के सूत्र ३० में दिया जा चुका है। श्वेता० उप० (३/१६) में भी इसका उत्तर दिया गया है। इसलिए ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में आपत्ति नहीं है।

सूत्र ३२ : 'न प्रयोजन वत्वात् ।'

भावार्थ : परमात्मा जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी न किसी प्रयोजन से प्रयुक्त होता है और परमात्मा पूर्ण काम होने से वह प्रयोजन रहित है ।

व्याख्या - ब्रह्म के जगत् के कारण होने में फिर यह शंका उपस्थित की गई है कि किसी भी कार्य का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है किन्तु ईश्वर को पूर्ण काम कहा गया है इसलिए उसका कोई प्रयोजन नहीं, होने से वह जगत् का कारण नहीं हो सकता। इस दुःखमय संसार में जीवों को उत्पन्न कर उन्हें दुःखों में डालने का क्या प्रयोजन हो सकता है ? इसलिए ब्रह्म को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता।

सूत्र ३३ : 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।'

भावार्थ : किन्तु ब्रह्म का कर्म में प्रवृत्त होना तो लोक में आप्त काम पुरुषों की भाँति केवल लीला मात्र है।

व्याख्या —जिस प्रकार ज्ञानी पुरुष जो आप्त काम और वीतराग हैं वे बिना किसी प्रयोजन एवं स्वार्थ सिद्धि के निष्काम कर्म करते रहते हैं। उनकी कोई प्रयोजन सिद्धि नहीं होती वैसे ही ब्रह्म बिना किसी प्रयोजन के संसार की रचना लीला वश करते हैं।

सूत्र ३४ : 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ।'

भावार्थ : परमेश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं आता क्योंकि वह जीवों के शुभाशुभ कर्मों

की अपेक्षा रखकर सृष्टि करता है। ऐसा ही श्रुति दर्शाती है।

व्याख्या—यदि परमात्मा पर यह दोष लगाया जाय कि उसने मनुष्यों में विषमता क्यों पैदा की। किसी को सम्पन्न एवं किसी को दरिद्र क्यों बनाया ? किसी को सुखी एवं किसी को दुःखी क्यों बनाया ? यह निर्दयता ही है। तो इसका उत्तर श्रुतियाँ देती हैं कि मनुष्य अपने ही कर्मों का शुभ एवं अशुभ फल भोगता है। ईश्वर उसे सुख-दुःख नहीं देता। सुख दुःख का सम्वन्ध मनुष्य के स्वयं के कर्मों से है। ईश्वर उन्हें अपनी मर्जी से नहीं देता।

सूत्र ३५ : 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्।'

भावार्थ : यदि कहो जगत् की उत्पत्ति से पहले जीव और उनके कर्मों का ब्रह्म से विभाग नहीं था इसलिए परमात्मा कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि करता है, यह कहना नहीं बन सकता, तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं।

व्याख्या—उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एक मात्र ब्रह्म ही था तथा जीव और उनके कर्मों का विभाग नहीं था तो ब्रह्म ने कर्मों की अपेक्षा से ही सृष्टि रचना की होगी, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं। प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में विलीन हो जाने पर भी उसकी सत्ता एवं सूक्ष्म विभाग का अभाव नहीं होता एवं नये कल्प में उसी के अनुसार फिर रचना होती है। यह जगत् अव्यक्त रूप से ब्रह्म में विद्यमान रहता है। उसका अभाव नहीं होता। जैसे नमक

जल में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार जीव एवं कर्म ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। यही उनकी अनादिता है।

सूत्र ३६ : 'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।'

भावार्थ : इसके सिवा जीव और उनके कर्मों का अनादि होना युक्ति से भी सिद्ध होता है और वेदों तथा स्मृतियों में ऐसा वर्णन उपलब्ध भी होता है।

व्याख्या—यदि जीव और उनके कर्मों को अनादि नहीं माना जाय तो प्रलयकाल में सभी जीव अपने आप मुक्त हो जाते हैं फिर पुनरागमन कैसे होता है? इसलिए इन्हें अनादि मानना ही उचित है। नये कल्प में ये ही जीव पुनः अपने कर्मों के अनुसार उसी क्रम से उत्पन्न होते हैं। कठोपनिषद (१/२/१८) में कहा गया है, 'यह जीवात्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता।' बृह० उप० (१/४/७) में कहा है, 'वह यह प्रत्यक्ष जगत् उत्पन्न होने से पहले नाम रूप से प्रकट नहीं था, वह पीछे प्रकट किया गया।' इसका अर्थ है वह अप्रकट, अव्यक्त रूप से विद्यमान था। बाद में वह नाम रूप से प्रकट हुआ। इससे जीवात्मा और जगत् अनादि सिद्ध होते हैं। गीता (१३/१९) में कहा गया है कि, 'पुरुष (जीव समुदाय) और प्रकृति (स्वभाव जिसमें जीवों के कर्म भी (संस्कार रूप में रहते हैं) इन दोनों को ही अनादि समझो।'

सूत्र ३७ : 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च।'

भावार्थ : इस जगत् कारण परब्रह्म में सब धर्मों की संगति है। इसलिए भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

व्याख्या—इस परब्रह्म में जड़ प्रकृति एवं जीव तथा उसके सभी कर्मों के धर्मों की संगति है क्योंकि ये अव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं एवं अपने धर्मों का परित्याग नहीं करते। इन्हीं धर्मों के कारण उसी प्रकार की नई सृष्टि की रचना होती है जो उसका व्यक्त रूप है। परब्रह्म इन सभी धर्मों का आश्रय है। इसलिए ब्रह्म को जगत् का कारण माननें में कोई दोष नहीं है। परमेश्वर निर्गुण, निराकार होते हुए भी सर्व-ज्ञता से सम्पन्न है।

।। पहला पाद सम्पूर्ण ।।

दूसरा अध्याय

दूसरा पाद

सूत्र १ : 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।'

भावार्थ : इसके सिवा जो केवल अनुमान है, वह 'प्रधान' जगत् का कारण नहीं है। क्योंकि उसके द्वारा नाना प्रकार की रचना सम्भव नहीं हैं ।

व्याख्या—सांख्यवादियों का 'प्रधान' (प्रकृति) जड़ होने से वह जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें सोच विचार की शक्ति नहीं है। यह सृष्टि सोच विचार पूर्वक निर्मित की गई है। गृह वस्त्र, हथियार, पात्र, मशीन आदि बनाने में वस्तुओं का संयोजन एवं रचना किसी कुशल व्यक्ति द्वारा ही की जा सकती है उसी प्रकार प्रकृति तत्वों, मनुष्य, पशु-पक्षियों एवं वनस्पति आदि की रचना की कल्पना एवं उनका संयोजन अनायास ही नहीं हो गया। ऐसा रचना-चातुर्य जड़ प्रकृति से अपने आप नहीं हो जाता। केवल सामग्री एकत्र हो जाने से मनचाहा भवन नहीं बन सकता क्योंकि उसमें बुद्धि पूर्वक समायोजन संभव नहीं है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि यह जड़ प्रकृति जगत् का कारण नहीं है।

सूत्र २ : 'प्रवृत्तेश्च ।'

भावार्थ : जगत् की रचना में जड़ प्रकृति का प्रवृत्त होना भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए 'प्रधान' जगत् का कारण नहीं है।

व्याख्या—सांख्य सूत्र (१/६१) में सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था को ही 'प्रधान' या 'प्रकृति' कहा गया है। यह जड़ प्रधान बिना चेतन की सहायता के सृष्टि निर्माण कार्य में प्रवृत्त कैसे हो सकता है ? चेतन की सहायता के बिना जड़ पदार्थ का अपने आप कार्य प्रवृत्त होना कहीं देखा नहीं जाता। इसलिए 'प्रकृति' जगत् का कारण नहीं है।

सूत्र ३ : **'पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि।'**

भावार्थ : यदि कहो दूध और जल की भांति जड़ प्रकृति का सृष्टि रचना में प्रवृत्त होना संभव हैं तो उसमें भी चेतन का सहयोग है। अकेले जड़ में प्रवृत्ति होना असंभव हैं।

व्याख्या—जड़ प्रकृति चेतन के सहयोग बिना स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकती। जिस प्रकार स्तन में दूध उतरने एवं जल को निश्चित दिशा में मोड़ने का कार्य बिना चेतन के अपने आप नहीं होता उसी प्रकार सृष्टि रचना में चेतन ही कार्य करता है। उसी प्रकार जड़ प्रधान स्वतः सृष्टि रचना नहीं कर सकता।

सूत्र ४ : **'व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात्।'**

भावार्थ : इसके सिवा सांख्यमत में प्रधान के सिवा दूसरा कोई उसकी प्रवृत्ति या निवृत्ति का नियामक नहीं माना गया हैं, इसलिए और प्रधान को किसी की अपेक्षा नहीं है, इसलिए भी प्रधान कभी सृष्टि रूप में परिणत होता और कभी नहीं होता है, यह बात संभव नहीं जान पड़ती।

व्याख्या—सांख्य मतावलम्बी 'प्रधान' के सिवा अन्य किसी

को प्रेरक नहीं मानता। वह 'पुरुष' को उदासीन मानता है। फिर जड़ प्रधान का स्वभाव जगत की उत्पत्ति करना है तो प्रलय में उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी और यदि स्वभाव नहीं है तो उत्पत्ति में प्रवृति नहीं होगी। इसलिए 'प्रधान' को जगत् का कारण मानना उचित नहीं है।

सूत्र ५ : 'अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्।'

भावार्थ : दूसरे स्थान में वैसे परिणाम का अभाव है, इसलिए भी तृण आदि की भांति प्रधान जगत् के रूप में परिणत होना सिद्ध नहीं होता।'

व्याख्या—जिस प्रकार ब्याही हुई गाय को खिलाई गई घास ही दूध में परिणत होती है, अन्य स्थान पर रखी गई अथवा बैल आदि को खिलाई गई वैसा परिणाम नहीं देती उसी प्रकार चेतन के सहयोग से ही जड़ प्रकृति जगत् का रूप लेती है अन्यथा नहीं।

सूत्र ६ : 'अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्।'

भावार्थ : अनुमान से प्रधान में सृष्टि रचना की स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी कोई प्रयोजन न होने के कारण यह मान्यता व्यर्थ ही होगी।

व्याख्या—सांख्य कारिका (२१) में बताया गया है कि 'प्रधान' की प्रवृत्ति 'पुरुष' को भोग एवं अपवर्ग प्रदान करने के लिए होती है। किन्तु उनकी मान्यतानुसार पुरुष असंग, निष्क्रिय, निर्विकार, उदासीन, निर्मल, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। ऐसी स्थिति में उसके लिए भोग तथा उससे विमुक्त होना दोनों की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यह माना हुआ प्रयोजन व्यर्थ ही है। स्वभाव के कारण जगत में

परिणत होने के पीछे भी कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता। इसलिए यह मानना उचित नहीं है।

सूत्र ७ : 'पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि।'

भावार्थ : यदि ऐसा कहो कि अन्धे और पंगु पुरुषों तथा लोह और चुम्बक की भांति प्रकृति एवं पुरुष की समीपता ही प्रकृति को सृष्टि रचना में प्रवृत्त कर देती है तो ऐसा मानने पर भी सांख्य सिद्धांत की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—सांख्य कारिका (२१) में अन्धे और पंगु का तथा चुम्बक और लोहे का उदाहरण देकर बताया गया है कि पुरुष के संयोग मात्र से प्रकृति सक्रिय होकर सृष्टि रचना करती है किन्तु ये दोनों उदाहरण ठीक नहीं हैं। अन्धे और पंगु दोनों चेतन हैं जो बुद्धि का उपयोग करते हैं तथा लोहे और चुम्बक को समीप लाने का कार्य भी चेतन द्वारा होता है। इससे सिद्ध होता है दोनों में चेतन की आवश्यकता होती है जो बुद्धि का प्रयोग करता है अन्यथा असंभव है।

सूत्र ८ : 'अङ्गित्वानुपपत्तेश्च।'

भावार्थ : अंगागिभाव अर्थात सत्वादि गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष की सिद्धि न होने के कारण भी केवल प्रधान को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता।

व्याख्या—जब प्रकृति के तीन गुण अपनी साम्यावस्था में रहते हैं तो उनमें कोई हलचल नहीं होती। हलचल का कारण उनमें विषमता पैदा होना है। विषमता न होने से सृष्टि रचना संभव ही नहीं है। यदि विषमता आ गई तो सृष्टि का क्रम

कभी बन्द हो ही नहीं सकता एवं प्रलय होगा ही नहीं। यदि 'पुरुष' के कारण क्षोभ होना मान लें तो पुरुष को असंग और निष्क्रिय नहीं माना जा सकता। इस कारण जड़ प्रकृति को सृष्टि रचना का कारण नहीं माना जा सकता।

सूत्र ९ :'अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्।'

भावार्थ : दूसरे प्रकार से साम्यावस्था भंग होने का अनुमान कर लेने पर भी प्रधान में ज्ञान शक्ति न होने से बुद्धि पूर्वक रची जाने वाली वस्तुओं की उत्पत्ति उसके द्वारा नहीं हो सकती।

व्याख्या— यदि यह मान भी लिया जाय कि अन्य कारणों से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो भी जाती है तो भी सृष्टि में जो कार्य बुद्धि पूर्वक होते हैं वे प्रकृति से असंभव हैं। जीव, मनुष्य, वनस्पति आदि की रचना बिना बुद्धि के नहीं हो सकती बल्कि उच्च बुद्धि का ही परिणाम है। इसलिए भी प्रकृति इनका कारण नहीं हो सकती।

सूत्र १० : 'विप्रतिठोधाच्चासमंजसम्।'

भावार्थ : परस्पर विरोधी बातों का वर्णन करने से भी सांख्य दर्शन समीचीन नहीं है।

व्याख्या—सांख्य दर्शन में कई परस्पर विरोधी बातों का वर्णन है इसलिए इसे भी निर्दोष नहीं माना जा सकता। जैसे एक ओर वह 'पुरुष' को असंग और निष्क्रिय मानता है तथा दूसरी ओर उसी को प्रकृति का दृष्टा और भोक्ता बताता है तथा प्रकृति के साथ उसका संयोग बताता है। प्रकृति को पुरुष के लिए भोग और मोक्ष प्रदान करने वाली बताना तथा उसके

पार्थक्य के ज्ञान से दुःख का अभाव बताना एवं उसी को मोक्ष कहना आदि।

सूत्र ११ : 'महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्।'

भावार्थ : ह्रस्व तथा परिमण्डल (परमाणु) से महत् एवं दीर्घ की उत्पत्ति बताने की भाँति ही वैशेषिकों द्वारा बताई गई सभी बातें असगत हैं।

व्याख्या—वैशेषिक दर्शन की मान्यतानुसार, 'सृष्टि की रचना का मूल तत्व परमाणु है तथा निमित्त कारण अदृष्ट या ईश्वर की इच्छा है। ये परमाणु नित्य, निरवयव तथा रूपादि गुणों से युक्त होते हैं। इनके परिमाण को 'पारिमाण्डल्य' कहते हैं। ये परमाणु जब परस्पर संयुक्त होते हैं तो पदार्थ की रचना होती है। संयुक्त होने का निमित्त कारण ईश्वरेच्छा है। ये परमाणु चार प्रकार के होते हैं—पार्थिव, तैजस, जलीय तथा वायवीय। प्रलय काल में ये परमाणु कोई भी कार्य आरम्भ न करके यों ही स्थित रहते हैं। सृष्टि काल में इनका संयोग होता है जिसमें ईश्वरेच्छा निमित्त कारण बनती है। इनका पहला कर्म वायवीय परमाणुओं में प्रकट होता है। फिर एक दूसरे का संयोग होता है तो सर्वप्रथम वायुतत्व प्रकट होता है जो आकाश में वेग से बहने लगता है। इसी प्रकार तैजस परमाणुओं से अग्नि की उत्पत्ति होती है और वह प्रज्वलित होने लगता है। जलीय परमाणुओं से जल की उत्पत्ति होती है तथा इसी क्रम से पार्थिव परमाणुओं से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पत्थर, मिट्टी, खनिज इसी के रूप हैं। कारण के गुणों से ही कार्य के गुण उत्पन्न होते हैं। रंग आदि भी उसी के गुण हैं। प्रलयकाल में इनके संयोग का नाश होता है जिससे पृथ्वी का भी नाश हो

जाता है।' इस प्रक्रिया से ग्रन्थकार सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार जब दो सूक्ष्म परमाणु मिलते हैं तो उनके गुण उनमें आने चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं गया। इसलिए वे इसे अमान्य ठहराते हैं।

सूत्र १२ : 'उभयथापि न कर्मातस्तदभावः।'

भावार्थ : दोनों प्रकार से ही परमाणुओं में कर्म होना नहीं सिद्ध होता। इसलिए परमाणुओं के संयोग पूर्वक द्वयणुक आदि की उत्पत्ति के क्रम से जगत् का जन्म आदि होना संभव नहीं है।

व्याख्या—परमाणुवादियों के अनुसार 'प्रलयकाल में परमाणु निश्चल रहते हैं। फिर उनमें कर्म उत्पन्न होकर उनका संयोग होता है जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है।' इसमें ग्रन्थकार का कहना है कि बिना निमित्त के कर्म का संचार नहीं हो सकता तथा जीव का अदृष्ट भी उसी में रहता है, परमाणु में नहीं। इससे भी कर्म का संचार संभव नहीं है। इसलिए परमाणुओं के संयोग से जगत् की रचना असंभव है। बिना कर्म (क्रिया शीलता) के जगत् की रचना नहीं हो सकती।

सूत्र १३ : 'समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः।'

भावार्थ : परमाणुवाद में समवाय सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है इसलिए भी परमाणुवाद सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कारण और कार्य की भाँति समवाय और समवायी में भी भिन्नता की समानता है। इसलिए उनमें अनवस्थादोष की प्राप्ति हो जाने पर परमाणुओं के संयोग से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

व्याख्या—जो वस्तुएँ अलग-अलग रह सकती हैं उनका 'संयोग' सम्बन्ध होता है जैसे रस्सी और घट, तथा जो अलग-अलग न रह सके उसका सम्बन्ध 'समवाय' कहलाता है जैसे तंतु और वस्त्र। जगत् में कारण और कार्य में भिन्नता देखी जाती है इसलिए 'समवायी' सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसलिए परमाणुओं के संयोग से जगत् की रचना संभव नहीं है।

सूत्र १४ : **'नित्यमेव च भावात्।'**

भावार्थ : इसके सिवा परमाणुओं में प्रवृत्ति या निवृत्ति का कर्म स्वाभाविक मानने पर सदा ही सृष्टि या प्रलय की सत्ता बनी रहेगी। इसलिए परमाणु कारणवाद असंगत है।

व्याख्या—परमाणुवादी परमाणुओं को नित्य मानते हैं तो उनका स्वभाव भी नित्य ही होगा फिर उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति मूलक दोनों कर्म होना असंगत है। यदि प्रवृत्ति ही उनका स्वभाव है तो वह सृष्टि रचना ही कर सकता है तथा निवृत्ति स्वभाव होने पर प्रलय ही कर सकता है। एक ही तत्व में दो विरोधी स्वभाव नहीं हो सकते। इसलिए यह असंगत प्रतीत होता है।

सूत्र १५ : 'रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्।'

भावार्थ : तथा परमाणुओं को रूप, रस आदि गुणों वाला माना गया है इसलिए उनमें नित्यता के विपरीत अनित्यता का दोष उपस्थित होता है क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—वैशेषिक मत में परमाणु नित्य होने के साथ-

साथ रूप, रस आदि गुण से युक्त भी माना गया है। किन्तु रूप, रस आदि अनित्य है। इसलिए परमाणु भी अनित्य ही सिद्ध होता है। इसलिए यह धारणा असंगत है।

सूत्र १६ : 'उभयथा च दोषात्।'

भावार्थ : परमाणुओं को यदि न्यूनाधिक गुणों से युक्त या गुण रहित मानें तो दोनों प्रकार से दोष आता है।

व्याख्या—यदि परमाणुओं को गुण रहित मानें तो पदार्थों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि गुण नहीं आ सकते तथा यदि उन्हें न्यूनाधिक गुणों वाला मानें तो सभी कार्यों में समान गुण ही आने चाहिए किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि में समान गुण नहीं हैं। इसलिए यह सिद्ध नहीं होता।

सूत्र १७ : 'अपरिग्रहाच्चात्यन्त मनपेक्षा।'

भावार्थ : परमाणु कारण वाद को शिष्ट पुरुषों ने ग्रहण नहीं किया है। इसलिए भी इनकी अत्यन्त उपेक्षा करनी चाहिए।

व्याख्या—परमाणु के द्वारा सृष्टि रचना की मान्यता को किसी भी शिष्ट पुरुष (ऋषि आदि) ने स्वीकार नहीं किया है। इसलिए यह मान्य नहीं है।

सूत्र १८ : 'समुदाय उभय हेतु केऽपि तदप्राप्ति।'

भावार्थ : परमाणु हेतुक ब्राह्म समुदाय और स्कन्ध हेतुक आभ्यंतर समुदाय ऐसे दो प्रकार के समुदाय को स्वीकार कर लेने पर भी उस समुदाय की प्राप्ति नहीं होती।

व्याख्या—बौद्धमत में वैभाषिक तथा सौमान्तिक श्रेणी वाले रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार इन पांच स्कन्धों को ही मान्यता देते हैं। इनमें आत्मा, आकाश आदि की सत्ता नहीं मानते। इन्ही पाँच स्कन्धों से सब कार्य चल रहा है। किन्तु इन सबको क्षणिक मान लेने पर इनका संघात नहीं बन सकता। इसलिए इनका मत भी मानने योग्य नहीं है।

सूत्र १९ : 'इतरेतर' प्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्ति मात्र निमित्त-त्वात्।'

भावार्थ : यदि कहो अविद्या, संस्कार, विज्ञान आदि में से एक-एक दूसरे-दूसरे के कारण होते हैं अतः इन्हीं से समुदाय की सिद्धि हो सकती है, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि ये अविद्या आदि उत्तरोत्तर की उत्पत्ति मात्र में ही निमित्त माने गये हैं, समुदाय या संघात में नहीं। अतः इनसे भी समुदाय की सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या—बौद्ध शास्त्र में विज्ञान संतति के कुछ हेतु माने गये हैं जिनमें अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप षड़ायतन, (इन्द्रियों का समूह) स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवता तथा दुर्मनस्ता आदि क्षणिक वस्तुओं में नित्यता और स्थिरता आदि का जो भ्रम है वही 'अविद्या' कहलाता है। ये क्रम से एक दूसरे के कारण बनते हैं। किन्तु इनसे समुदाय की सिद्धि नहीं हो सकती। इससे यह अमान्य है।

सूत्र २० : 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्।'

भावार्थ : तथा बाद में होने वाले भाव की उत्पत्ति के समय

पहले क्षण में विद्यमान कारण का नाश हो जाता है। इसलिए पूर्वोक्त अविद्या आदि हेतु, संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावों की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकते।

व्याख्या– जिस प्रकार आभूषण बनने पर स्वर्ण का नाश नहीं होता, घट बनने पर मृतिका का नाश नहीं होता, वस्त्र बनने पर सूत का नाश नहीं होता उनमें कार्य में कारण विद्यमान रहता है तभी कार्य संभव है। किन्तु बौद्धमत में समस्त पदार्थों का प्रत्येक क्षण नाश माना गया है तथा उनसे नये की सिद्धि मानी गई है। इस मत से कार्य में कारण की विद्यमानता स्वीकार नहीं की गई है। इसलिए अविद्या आदि हेतु संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावों की उत्पत्ति के कारण नहीं हो सकते।

सूत्र २१ : 'असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा।'

भावार्थ : कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति मानने से प्रतिज्ञा भंग होगी, नहीं तो कारण और कार्य की एक काल में सत्ता माननी पड़ेगी।

व्याख्या—बौद्ध-मत में विज्ञान की उत्पत्ति के चार हेतु बताये गये हैं जिनके होने पर ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो उक्त प्रतिज्ञा भंग होती है तथा यदि ऐसा नहीं मानते तो कारण और कार्य की एक ही काल में दोनों की सत्ता माननी पड़ेगी। अतः दोनों प्रकार से उक्त मत समीचीन नहीं है।

सूत्र २२ : 'प्रतिसंख्या प्रतिसंख्या निरोधाप्राप्ति रविच्छेदात्।'

भावार्थ : प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध इन

दो प्रकार के निरोधों की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि संतान (प्रवाह) का विच्छेद नहीं हो सकता।

व्याख्या—बौद्ध मत के अनुसार एक पदार्थ का नाश और दूसरे की उत्पत्ति का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इनके रुकने का कोई भी कारण उनकी मान्यतानुसार नहीं है फिर प्रतिसंख्या निरोध (बुद्धि पूर्वक सहेतुक विनाश) तथा अप्रति-संख्या निरोध (स्वभाव से ही विनाश होना)अर्थात् स्वाभाविक प्रलय इनके मत से सिद्ध नहीं होता। ये समस्त पदार्थों को प्रतिक्षण विनाश शील मानते हैं। इसलिए दोनों प्रकार के निरोध की सिद्धि नहीं हो सकती।

सूत्र २३ : 'उभयथा च दोषात्।'

भावार्थ : दोनों प्रकार से भी दोष आता है। इसलिए उनकी मान्यता युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या—बौद्ध मत वाले ऐसा मानते हैं कि 'सब पदार्थ क्षणिक और असत्य हैं किन्तु भ्रान्ति रूप अविद्या के कारण स्थिर और सत्य प्रतीत होते हैं। ज्ञान के द्वारा अविद्या का अभाव होने से सबका अभाव हो जाता है। इस प्रकार बुद्धि पूर्वक निरोध की सिद्धि होती है।' यदि यह माना जाय तो बिना पूर्णज्ञान के भ्रान्ति से प्रतीत होने वाला जगत् अपने आप नष्ट हो जाता है इसमें विरोध आता है तथा इसे मानने पर ज्ञान के साधना का उपदेश व्यर्थ होगा। अत: यह मत युक्ति संगत नहीं है।

सूत्र २४ : 'आकाशे चाविशेषात्।'

भावार्थ : आकाश के विषय में भी उनकी मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि अन्य भाव पदार्थों से उसमें कोई विशेषता नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार स्पर्श, रूप, रस, गंध, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी का गुण है उसी प्रकार आकाश का गुण शब्द है। बिना आकाश के शब्द का श्रवण नहीं हो सकता इसलिए यह भी भाव पदार्थ है। बौद्ध मत वाले आकाश को अभाव रूप मानते हैं जो उचित नहीं है। चारों भूतों का आधार आकाश ही है अतः उसकी सत्ता प्रत्यक्ष है।

सूत्र २५ : **'अनुस्मृतेश्च।'**

भावार्थ : पहले के अनुभवों का बारंबार स्मरण होता है। इसलिए अनुभव करने वाला आत्मा क्षणिक नहीं है। इस युक्ति से भी बौद्ध मत असंगत सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिन वस्तुओं का पहले अनुभव किया जा चुका है उनका बार-बार स्मरण होता है, उसे 'अनुस्मृति' कहते हैं। यह तभी संभव है जब उसे स्मरण करने वाला आत्मा नित्य माना जाय। यदि वह क्षण-क्षण में बदल जाता है तो पहले की स्मृति किस प्रकार रह सकती है। बचपन की स्मृति मृत्यु पर्यन्त रहती है, कइयों को पूर्व जन्म की भी रहती है। आत्मा इसमें हजारों बार बदल जाती है। तो यह स्मृति कैसे रह सकती है ? इसलिए बौद्धों का क्षणिक वाद सर्वथा असंगत है।

सूत्र २६ : **'नासतोऽदृष्टत्वात्।'**

भावार्थ : असत् से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है।

व्याख्या—असत् पदार्थ से किसी कार्य की उत्पति नहीं हो सकती। मिट्टी से ही घट बनता है, जल ही बर्फ बनता है, स्वर्ण से ही गहने बनते हैं आदि। असत् (अभाव) से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अत: जगत् का कारण सत् है। बौद्धों की मान्यता है कि बीज नष्ट होकर ही वृक्ष बनता है, दूध मिट कर ही दही बनता है आदि। इस प्रकार कारण नष्ट होकर ही कार्य उत्पन्न करता है। किन्तु इसमें कारण नष्ट नहीं होता बल्कि उसका रूपान्तरण होता है, उसका विकास होता है। अत: बौद्ध मान्यता असंगत है।

सूत्र २७ : **'उदासीनानामपि चैवं सिद्धि।'**

भावार्थ : इसके सिवा इस प्रकार बिना कर्ता के स्वत: कार्य की उत्पत्ति मानने पर उदासीन पुरुषों का भी कार्य सिद्ध हो सकता है।

व्याख्या—बौद्धों की मान्यतानुसार किसी नित्य चेतन कर्ता के बिना ही क्षणिक पदार्थों से अपने आप कार्य उत्पन्न हो जाता है तब तो जो लोग उदासीन रहते हैं व कार्य में प्रवृत्त नहीं होते उनके कार्य भी पदार्थगत् शक्ति से अपने आप हो जाने चाहिए किन्तु ऐसा देखा नहीं गया। इसलिए उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है।

सूत्र २८ : **'नाभाव उपलब्धे।'**

भावार्थ : जानने में आने वाले पदार्थों का अभाव नहीं है क्योंकि उनकी उपलब्धि होती है।

व्याख्या—जो पदार्थ जानने में आने वाले हैं वे मिथ्या नहीं हैं। वे कारण रूप से तथा कार्य रूप से सदा ही सत्य है

इसलिए उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। यदि ये मिथ्या होते तो उपलब्धि नहीं हो सकती थी।

सूत्र २६ : **'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिषत्।'**

भावार्थ : जाग्रत अवस्था में उपलब्ध होने वाले पदार्थों से स्वप्न आदि में प्रतीत होने वाले पदार्थों के धर्म में भेद होने के कारण भी जाग्रत में उपलब्ध होने वाले पदार्थ स्वप्नादि में उपलब्ध पदार्थों की भांति मिथ्या नहीं है।

व्याख्या—बौद्ध विज्ञानवादी (योगाचार) मानते हैं कि उपलब्धि मात्र से पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती। स्वप्न में तथा बाजीगर द्वारा भी पदार्थ के उपस्थित रहने पर वे पदार्थ सत्य नहीं होते। इस पर कहा गया है कि जाग्रत अवस्था में उपलब्ध होने वाले पदार्थों एवं स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थों के धर्मों में भेद होता है। वे जाग्रत में उपलब्ध नहीं होते तथा एक व्यक्ति को जो पदार्थ दिखाई देते हैं वे दूसरे को दिखाई नहीं देते। बाजीगर के पदार्थ क्षणिक ही दिखाई देते हैं। वे धर्म जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाले पदार्थों में नहीं होते। इसलिए स्वप्न की भाँति जगत् के पदार्थों को भ्रम या असत्य नहीं कहा जा सकता। ये सत्य हैं।

सूत्र ३० : **'न भावोऽनुपलब्धे।'**

भावार्थ : विज्ञान वादियों द्वारा कल्पित वासना की सत्ता सिद्ध नहीं होती क्योंकि उनके मत के अनुसार बाह्य पदार्थों की उपलब्धि ही नहीं हो सकती।

व्याख्या—बौद्ध विज्ञानवादी मानते हैं कि बाह्य पदार्थों के

न होने पर भी वासना के कारण बुद्धि द्वारा उनका उपलब्ध होना संभव है। किन्तु यह भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि पदार्थ के पूर्व अनुभव से ही संस्कार बनते हैं तथा उसी से वासना जाग्रत होती है। पदार्थ की सत्ता न होने पर उपलब्धि भी नहीं हो सकती। इसलिए विज्ञान वादियों की यह मान्यता ठीक नहीं है।

सूत्र ३१ : **'क्षणिकत्वाच्च।'**

भावार्थ : बौद्ध मत के अनुसार वासना की आधार भूता बुद्धि भी क्षणिक है। इसलिए भी वासना की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—बौद्धमत वाले वासना की आधारभूत जो बुद्धि है उसे भी क्षणिक मानते हैं। इसलिए निराधार वासना का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए यह मत भ्रान्तिपूर्ण है।

सूत्र ३२ : **'सर्वथानुपपत्तेश्च।'**

भावार्थ : विचार करने पर बौद्धमत में सब प्रकार से असंगति दिखाई देती है। इसलिए भी बौद्धमत उपादेय नहीं है।

व्याख्या—इस प्रकार युक्ति पूर्वक विचार करने पर बौद्ध मत की प्रत्येक बात युक्ति विरुद्ध जान पड़ती है। इसलिए यह कदापि उपादेय नहीं है। इससे इनके सर्व शून्यवाद का भी खण्डन हो जाता है।

सूत्र ३३ : **'नैकस्मिन्न सम्भवात्।'**

भावार्थ : एक सत्य पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते क्योंकि यह असंभव है।

व्याख्या—जैन मत में सात पदार्थ एवं पाँच अस्तिकाय माने गये हैं और सर्वत्र सप्तभंगी न्याय की अवतारणा करते हैं। ये सप्तभंगी न्याय के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के विषय में विकल्प रखते हैं। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं कि एक सत्य पदार्थ है उसमें विरोधी धर्म नहीं हो सकते। जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता तथा जो नहीं है उसकी विद्यमानता नहीं हो सकती। जो नित्य पदार्थ है वह अनित्य नहीं हो सकता, जो अनित्य है वह नित्य नहीं हो सकता। अत: जैनियों का प्रत्येक वस्तु को विरुद्ध धर्मों वाली मानना युक्ति संगत नहीं है।

सूत्र ३४ : 'एवं चात्माकात्स्न्र्यम् ।'

भावार्थ : इसी प्रकार आत्मा को अपूर्ण एक देशीय अर्थात् शरीर के बराबर माप वाला मानना भी युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या—जैन मत में आत्मा को एक देशीय माना गया है कि वह प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न है तथा उसका माप शरीर के बराबर ही होता है। ये दोनों बातें युक्ति संगत नहीं हैं क्योंकि यदि कर्म वश मनुष्य को चींटी अथवा हाथी का शरीर मिल गया तो वह उसमें कैसे समा सकती है? तथा शरीर के बराबर माप वाली होने से यदि शरीर का कोई अंग कट जाए तो क्या आत्मा भी कट जाती है? बालक से युवा होने पर क्या आत्मा भी बढ़ती है? इन विसंगतियों के कारण यह मत भी मान्य नहीं है।

सूत्र ३५ : 'न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ।'

भावार्थ : इसके सिवा आत्मा को घटाने बढ़ाने वाला मान

लेने से भी विरोध का निराकरण नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा में विकार आदि दोष प्राप्त होंगे।

व्याख्या—यदि यह मान लिया जाय कि छोटा-बड़ा शरीर मिलने पर आत्मा भी छोटी बड़ी हो जाती है तो आत्मा भी विकारी सिद्ध होगी। जो पदार्थ घटता बढ़ता है वह कभी नित्य नहीं हो सकता। इसलिए यह मत मान्य नहीं है।

सूत्र ३६ : **'अन्त्यावस्थितेश्चो भय नित्यत्वाद विशेषः।'**

भावार्थ : और अन्तिम अर्थात् मोक्षावस्था में जो जीव का परिमाण है, उसकी नित्य स्थिति स्वीकार की गई है इसलिए आदि और मध्य अवस्था में जो उनका परिमाण रहा है उसको भी नित्य मानना हो जाता है। अत: कोई विशेषता नहीं रह जाती। सब शरीरों में उसका एक सा माप सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या—जैन मत के अनुसार मोक्ष में जीव का माप एक-सा हो जाता है तो फिर आदि और मध्य अवस्था में भी वह एक सा ही होना चाहिए। उसका घटना बढ़ना युक्ति संगत नहीं जान पड़ता।

सूत्र ३७ : **'पत्युर सामंजस्यात्।'**

भावार्थ। पशुपति का मत भी आदरणीय नहीं है क्योंकि वह युक्ति विरुद्ध है।

व्याख्या—पशुपति मत वालों की मान्यता है कि 'कण्ठी, रुचिका, कुण्डल, जटा, भस्म और यज्ञोपवीत इन छः मुद्राओं

को धारण करने वाले का पुनः जन्म नहीं होता। हाथ में रुद्राक्ष का कंकण पहनना, मस्तक पर जटा धारण करना, मुर्दे की खोपड़ी लिए रहने तथा भस्म लगाने से मुक्ति मिलती है। ये महेश्वर को निमित्त कारण तथा प्रधान को उपादान कारण मानते हैं। यह मत भी मानने योग्य नहीं है।

सूत्र ३८ : 'सम्बन्धानुपपत्तेश्च।'

भावार्थ : 'सम्बन्ध की सिद्धि न होने से भी यह मान्यता असंगत है।

व्याख्या—पाशुपत मत के अनुसार ईश्वर निमित्त मात्र हैं। चूंकि वह निराकार है इसलिए प्रधान के साथ उसका संयोग सम्बन्ध कैसे हो सकता है? यह वेद विरुद्ध तथा तर्क संगत नहीं होने से अमान्य है।

सूत्र ३९ : 'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च।'

भावार्थ : अधिष्ठान की उपपत्ति न होने के कारण भी ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानना उचित नहीं है।

व्याख्या—इनकी मान्यतानुसार ईश्वर भी कुम्भकार की भाँति सामग्री का अधिष्ठाता होकर मिट्टी से बर्तन बनाने की भाँति प्रधान से सृष्टि का निर्माण करता है किन्तु कुम्भकार एवं मिट्टी सशरीर एवं साकार है जब कि ईश्वर निराकार है एवं प्रधान रूपादि से रहित है। इसलिए यह मत युक्ति संगत नहीं है।

सूत्र ४० : 'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः।'

भावार्थ : यदि ईश्वर को शरीर, इन्द्रिय आदि करणों से

युक्त मान लिया जाय तो यह ठीक नहीं है क्योंकि भोग आदि से उसका सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा।

व्याख्या—यदि ईश्वर को मनुष्य की भांति शरीरधारी मान लिया जाय तो शरीरधारी होने से साधारण जीवों की भाँति उसे भी कर्मानुसार भोगों की प्राप्ति होगी जो उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिए ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानना उचित नहीं है।

सूत्र ४१ : **'अन्तवत्त्यमसर्वज्ञता वा।'**

भावार्थ : पाशुपत मत में ईश्वर के अन्त वाला होने का अथवा सर्वज्ञ न होने का दोष उपस्थित होता है।

व्याख्या—पाशुपत मत के अनुसार ईश्वर अनन्त एवं सर्वज्ञ है। साथ ही वे प्रकृति और जीवों को भी अनन्त मानते हैं। यदि ईश्वर शरीरधारी एक देशीय है तो वह सर्वज्ञ एवं अनन्त नहीं हो सकता। वह भी शांत एवं अल्पज्ञ ही होगा जो वेद विरुद्ध होने से मान्य नहीं है।

सूत्र ४२ : **'उत्पत्यसम्यवात्।'**

भावार्थ : जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है। इसलिए वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति मानना वेद विरुद्ध प्रतीत होता है।

व्याख्या—पाँचरात्र आगम में भगवान 'वासुदेव' को परब्रह्म माना गया है किन्तु उनसे 'संकर्षण' नामक जीव की उत्पत्ति बताना वेद विरुद्ध है क्योंकि जीव को नित्य कहा गया है। उत्पन्न होने वाली वस्तु कभी नित्य नहीं होती अतः जीव की उत्पत्ति असंभव है।

सूत्र ४३ : 'न च कर्तुः करणम् ।'

भावार्थ : तथा कर्ता (जीवात्मा) से करण (मन और अहं-कार) की उत्पत्ति भी संभव नहीं है ।

व्याख्या—जिस प्रकार वासुदेव से जीव (संकर्षण) की उत्पत्ति असंभव है उसी प्रकार संकर्षण (चेतन जीवात्मा) से 'प्रद्युम्न' (मनस्तत्व) और उससे 'अनिरुद्ध' (अहंकार तत्व) की उत्पत्ति भी संभव नहीं है क्योंकि कर्ता से करण की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यह शंका उठाई गई है ।

सूत्र ४४ : 'विज्ञानादिभावे वा तत्र प्रतिषेधः ।'

भावार्थ : निःसंदेह पांच रात्र शास्त्र में भगवान के विज्ञा-नादि षड्विध गुणों का संकर्षण आदि में भाव (होना) सूचित किया गया है। इस मान्यता से उनका भगवत् स्वरूप होना सिद्ध होता है इसलिए उनकी उत्पत्ति का वेद में निषेध नहीं है ।

व्याख्या—उपर्युक्त शंका का समाधान इसमें किया गया है कि संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध जीव तत्व, (प्राण) मन स्तत्व और अहंकार के प्रतीक हैं जो भगवान वासुदेव के ही अंगभूत है । ये भगवान की ही शक्तियाँ हैं जो प्रकट होती हैं । ये वासुदेव से भिन्न तत्व नहीं हैं । अतः इनकी उत्पत्ति का वर्णन वेद सम्मत है ।

सूत्र ४५ : 'विप्रतिषेधाच्च ।'

भावार्थ : इस शास्त्र में विशेष रूप से जीव की उत्पत्ति का निषेध किया गया हैं, इसलिए भी यह वेद के प्रतिकूल नहीं है ।

व्याख्या - पाँचरात्र आगम में जीव को अनादि, नित्य, चेतन और अविनाशी माना गया है तथा उसके जन्म-मरण का निषेध किया गया है इसलिए इसका वैदिक प्रक्रिया से कोई विरोध नहीं है। यहाँ जो इनकी उत्पत्ति का वर्णन है वह भगवान के अंशों का प्रकटीकरण बताने वाला है। इनकी उपासना भी भगवान की ही उपासना मानी गई है क्योंकि ये भगवान से भिन्न नहीं है। अतः यह शास्त्र वेदानुकूल है।

।। दूसरा पाद सम्पूर्ण ।।

दूसरा अध्याय

तीसरा पाद

सूत्र १ : 'न वियदश्रुतेः ।'

भावार्थ : आकाश उत्पन्न नहीं होता क्योंकि छान्दोग्य-उपनिषद् के सृष्टि प्रकरण में उसकी उत्पत्ति नहीं सुनी गई है ।

व्याख्या—वहाँ यह शंका उत्पन्न की गई है कि आकाश नित्य है, वह उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उसे विभु (व्यापक) माना गया है । छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/३) में भी जगत् की उत्पत्ति के वर्णन में पहल-पहले तेज की रचना बताई गई है । यहाँ आकाश की उत्पत्ति का कोई प्रसंग नहीं है ।

सूत्र २ : 'अस्ति तु ।'

भावार्थ : किन्तु आकाश की उत्पत्ति का वर्णन भी है ।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१/१) में कहा गया है कि 'निश्चय ही सर्व प्रसिद्ध उस परमात्मा से पहले-पहल आकाश तत्व उत्पन्न हुआ । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी तत्व उत्पन्न हुआ ।' इस प्रकार वेद में आकाश की उत्पत्ति का वर्णन है । अतः उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है ।

सूत्र ३ : 'गौण्य सम्भवात् ।'

भावार्थ : आकाश की उत्पत्ति असंभव होने के कारण यह श्रुति गौणी है।

व्याख्या—इसमें फिर शंका उपस्थित की गई है कि विभु होने के कारण आकाश का उत्पन्न होना नहीं बन सकता। अत: उस तैत्तिरीयोपनिषद् में आकाश की उत्पत्ति बताई गई है, उस कथन को गौण समझना चाहिए। वहाँ किसी दूसरे अभिप्राय से आकाश की उत्पत्ति कही गई होगी।

सूत्र ४ : 'शब्दाच्च।'

भावार्थ : शब्द प्रमाण से भी यह सिद्ध होता है कि आकाश उत्पन्न नहीं हो सकता।

व्याख्या—बृहदारण्यक उपनिषद् (२/३/३) में कहा है, 'वायु और अन्तरिक्ष यह अमृत है।' तथा यह भी कहा गया है कि 'जिस प्रकार यह आकाश अनन्त है उसी प्रकार आत्मा को अनन्त समझना चाहिए।' तैत्तिरीय उपनिषद् (१/६/२) में कहा है, ब्रह्म का शरीर आकाश है।' इन श्रुति वाक्यों से आकाश की अनन्तता सिद्ध होती है। इसलिए आकाश की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह फिर शंका उपस्थित की गई है।

सूत्र ५ : स्याच्चैकस्य ब्रह्म शब्दवत्।'

भावार्थ : तथा ब्रह्म शब्द की भाँति किसी एक शाखा के वर्णन में गौण रूप से भी आकाश की उत्पत्ति बताई जा सकती है।

व्याख्या—यहाँ फिर शंका उपस्थित की गई है कि किसी शाखा वालों के द्वारा गौण रूप से भी आकाश की उत्पत्ति बताई जा सकती है। वास्तव में उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

सूत्र ६ : 'प्रतिज्ञाहानिर व्यतिरेकाच्छब्देभ्य: ।'

भावार्थ : ब्रह्म के कार्य से आकाश को अलग न मानने से ही एक के ज्ञान से सब के ज्ञान सम्बन्धी प्रतिज्ञा की रक्षा हो सकती है श्रुति के शब्दों से यही सिद्ध होता है ।

व्याख्या—उपर्युक्त शंकाओं के समाधान हेतु कहा गया है कि श्रुतियों में यह कहा गया है कि 'उस एक को जानने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है ।' मुण्डक उपनिषद् (२/२/११) में कहा गया है 'यह सब ब्रह्म ही है ।' छान्दोग्य उपनिषद् (६/८/७) में कहा गया है 'यह सब इस ब्रह्म का स्वरूप है ।' इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि आकाश उस ब्रह्म का ही कार्य है । उससे भिन्न कदापि नहीं है ।

सूत्र ७ : 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ।'

भावार्थ : तथा साधारण लौकिक व्यवहार की भांति विकार मात्र सब कुछ ब्रह्म का ही विभाग (कार्य) है ।

व्याख्या—श्रुतियों में जब 'सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसा कह दिया गया तो आकाश भी उसी का कार्य हुआ । वह उससे भिन्न कैसे हो सकता है ? अलग-अलग नाम लेकर कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

सूत्र ८ : 'एतेन मातरिश्वा व्याख्यात: ।'

भावार्थ : इससे अर्थात् आकाश की उत्पत्ति सिद्ध करने वाले कथन से ही वायु का उत्पन्न होना बता दिया गया है ।

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व सूत्रों में ब्रह्म से आकाश का

उत्पन्न होना निश्चित किया गया है उसी प्रकार आकाश से वायु का उत्पन्न होना भी सिद्ध हो जाता है। उसे अलग से सिद्ध करना आवश्यक नहीं रह जाता।

सूत्र ९ : 'असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः।'

भावार्थ : 'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म के सिवा अन्य किसी का उत्पन्न न होना तो असंभव है। क्योंकि अन्य किसी का उत्पन्न न होना युक्ति और प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या—श्रुतियों में जगह-जगह परब्रह्म के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस समस्त जड़ चेतनात्मक जगत् का परम कारण है। उसके सिवा अन्य सभी तत्व उत्पत्तिशील हैं जैसे बुद्धि, अहंकार, काल, गुण और परमाणु आदि। प्रलय के समय भी परब्रह्म के सिवा अन्य किसी का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। अतः ब्रह्म के सिवा सभी उत्पत्तिशील है। कोई भी नित्य नहीं है।

सूत्र १० : 'तेजोऽतस्तथा ह्याह।'

भावार्थ : तेज इस वायु से उत्पन्न हुआ। ऐसा ही अन्यत्र कहा है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है 'उस ब्रह्म ने तेज को रचा' तथा तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है 'सर्वात्मा परमेश्वर से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से तेज।' इस प्रकार तेज को किससे उत्पन्न होना माना जाय ब्रह्म से या वायु से। इस शंका का समाधान यहाँ किया गया है कि तेज तत्व वायु से उत्पन्न हुआ ऐसा मानना चाहिए क्योंकि

यही बात श्रुति में अन्य जगह भी कही गई है। ब्रह्म ने ही आकाश, वायु के बाद तेज की उससे रचना की। अतः दोनों उक्तियाँ ठीक हैं।

सूत्र ११ : 'आपः।'

भावार्थ : जल तेज से उत्पन्न हुआ।

व्याख्या—उपरोक्त क्रम के अनुसार ही सृष्टि रचना में सर्व प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से तेज तथा तेज से जल उत्पन्न हुआ।

सूत्र १२ : 'पृथिव्यधिकार रूपशब्दान्तरेभ्यः।'

भावार्थ : इस प्रकरण में अन्न के नाम से पृथ्वी ही कही गई है क्योंकि पांचों तत्वों की उत्पत्ति का प्रकरण है, उसमें बताया हुआ काला रूप भी पृथ्वी का ही माना गया है तथा दूसरी श्रुति में भी जल से पृथ्वी की ही उत्पत्ति बताई गई है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् में जगत् की उत्पत्ति के वर्णन में तेज, जल और अन्न इन तीनों से जगत् की रचना का वर्णन है। यहाँ अन्न का अर्थ पृथ्वी ही है। पाँचों तत्वों की उत्पत्ति में जल से पृथ्वी की ही उत्पत्ति मानी गई है। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी जल से पृथ्वी का उत्पन्न होना कहा गया है। पृथ्वी से औषधि एवं औषधि से अन्न उत्पन्न होता है। इसलिए यहाँ अन्न पृथ्वी का ही वाचक है।

सूत्र १३ : 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिगात्सः।'

भावार्थ : इन तत्वों के भली-भांति चिन्तन करने का कथन होने से ही तो यह सिद्ध होता है कि वह पर-

मात्मा ही उन सब की रचना करता है क्योंकि उक्त लक्षण उसी के अनुरूप है।

व्याख्या – इस प्रकरण में बार-बार कार्य के चिन्तन की बात कही गई है। यह चिन्तन चेतन परमात्मा में ही संगत हो सकता है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि स्वयं परमात्मा ही क्रम से एक दूसरे को उत्पन्न करता है क्योंकि सब की रचना करने वाला वही है। जड़ किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता।

सूत्र १४ : **'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च।'**

भावार्थ : **किन्तु इस उत्पत्ति क्रम से प्रलय का क्रम विपरीत होता है। ऐसा ही होना युक्ति संगत है तथा स्मृति में भी ऐसा ही वर्णन है।**

व्याख्या—उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति का जो क्रम बताया है उसके विपरीत क्रम से प्रलय होता है। प्रलय में सबसे पहले पृथ्वी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में तथा आकाश का ब्रह्म में लय हो जाता है। प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारण में ही लीन होता है।

सूत्र १५ : **'अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगादिति चेन्नाविशेषात्।'**

भावार्थ : **यदि कहो इन्द्रियां और मन उत्पत्ति क्रम की दृष्टि से परमात्मा और आकाश आदि भूतों के बीच में होने चाहिए, क्योंकि श्रुति में यही निश्चय करने वाला लिंग (प्रमाण) प्राप्त होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति में किसी क्रम विशेष का वर्णन नहीं है।**

व्याख्या—श्रुति में प्राण, इन्द्रियां, मन आदि किस क्रम से उत्पन्न हुए तथा आकाश से पहले उत्पन्न हुए या बाद में, यह क्रम कहीं नहीं मिलता। इसलिए किसी क्रम को निश्चित करना ठीक नहीं है।

सूत्र १६ : 'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भाव-भावित्वात्।'

भावार्थ : किन्तु चराचर शरीरों को लेकर कहा हुआ वह जन्म-मरण आदि का कथन जीवात्मा के गौण रूप से हो सकता है क्योंकि वह उन-उन शरीरों के भाव से भावित रहता है।

व्याख्या—यह जीवात्मा सर्वथा शुद्ध परमेश्वर का अंश होने से जन्म मरण से रहित अविनाशी है तो भी यह परम्परागत अपने कर्मों के अनुसार स्थावर, जंगम शरीरों के आश्रित है। जो अपने को ब्रह्म नहीं, शरीर ही मानता है उसी का जन्म-मरण होता रहता है। परमात्मा उनको अपने कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं।

सूत्र १७ : 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः।'

भावार्थ : जीवात्मा वास्तव में उत्पन्न नहीं होता क्योंकि श्रुति में जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं बताई गई है। इसके सिवा उन श्रुतियों से ही इसकी नित्यता सिद्ध की गई है। इसलिए भी जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

व्याख्या—श्रुतियों में जीवात्मा का उत्पन्न होना नहीं कहा गया है। जीवात्मा की शरीर से उत्पत्ति नहीं होती। उसे नित्य माना गया है। कठोपनिषद् (१/२/१८) में कहा गया है 'यह

विज्ञान स्वरूप जीवात्मा न तो जन्मता है न मरता है, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराण है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। 'इसलिए यह निर्विवाद है कि जीवात्मा स्वरूप से उत्पन्न नहीं होता।

सूत्र १८ : **'ज्ञोऽत एव।'**

भावार्थ : वह नित्य जन्म मरण से रहित है। इसलिए ही ज्ञाता है।

व्याख्या—यह जीवात्मा नित्य चेतन है। यह स्वरूप से जन्मने-मरने वाला नहीं है इसीलिए यह ज्ञाता है। अनित्य होने पर यह ज्ञाता नहीं हो सकता। यह केवल शरीर बदलता है इसलिए पूर्व जन्मों की स्मृति संस्कार रूप से विद्यमान रहती है। यदि जीवात्मा बदल जाती तो वह ज्ञाता नहीं हो सकती थी। शरीर के बदलने से जीवात्मा नहीं बदलता।

सूत्र १९ : **'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्।'**

भावार्थ : शरीर के उत्क्रमण करने, परलोक में जाने और पुनः लौट कर आने का श्रुति में वर्णन है। इससे भी सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/२/७) में कहा गया है, 'मरने के बाद इन जीवात्माओं में से अपने-अपने कर्मों के अनुसार कोई तो वृक्षादि अचल शरीर को धारण कर लेते हैं और कोई देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जंगम शरीरों को धारण कर लेते हैं। इस प्रकार अन्य श्रुतियों में भी जीवात्मा के वर्तमान शरीर को छोड़ने परलोक में जाने तथा वहाँ से पुनः लौटने का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा का नाश नहीं होता।

सूत्र २० : 'स्वात्मना चोत्तरयोः।'

भावार्थ : परलोक में जाना और पुनः वहाँ से लौट आना इन दोनों क्रियाओं की सिद्धि स्व-स्वरूप से ही होती है। इसलिए भी आत्मा नित्य है।

व्याख्या – आत्मा को नित्य न मानने पर भी शरीर का वियोग तो होगा ही किन्तु परलोक में जाना और वहाँ से पुनः लौटकर आना इस क्रिया की सिद्धि अपने स्वरूप से ही होती है। जो परलोक जाता है वही लौटकर आता है, दूसरा नहीं। इससे सिद्ध होता है कि शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश नहीं होता। वह सदा ही रहता है।

सूत्र २१ : 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।'

भावार्थ : यदि कहो कि जीवात्मा अणु नहीं है क्योंकि श्रुति में उसे अणु न कहकर महान् और व्यापक बताया गया है। तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ श्रुतियों में आत्मा को महान और विभु बताया है वहाँ दूसरे का अर्थात् परमात्मा का प्रकरण है।

व्याख्या—जीवात्मा अणु स्वरूप ही है किन्तु श्रुतियों में जहाँ उसे महान और व्यापक बताया गया है वहाँ आत्मा शब्द जीवात्मा का नहीं परमात्मा का ही वाचक है।

सूत्र २२ : 'स्वशब्दानुमानाभ्यां च।'

भावार्थ : श्रुति में अणु वाचक शब्द है उससे और अनुमान (उपमा) वाचक दूसरे शब्दों से भी जीवात्मा का अणुत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (३/१/९) में कहा गया है, 'यह

अणु परिमाण वाला आत्मा चित्त से जानने के योग्य है ।' श्वेताश्वतर उपनिषद् (५/६) में कहा गया है, 'बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जायें और उनमें से एक टुकड़े के पुनः एक सौ टुकड़े किए जायें, तो उतना ही माप जीवात्मा का समझना चाहिए ।' इस प्रकार श्रुति में जीव को 'अणु' कहा गया है । इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा 'अणु' है।

सूत्र २३ : 'अविरोधश्चन्दनवत् ।'

भावार्थ : जिस प्रकार एक देश में लगाया गया चन्दन अपने गन्ध रूप गुण से सब जगह फैल जाता है, वैसे ही एक देश में स्थित आत्मा विज्ञान रूप गुण द्वारा समस्त शरीर को व्याप्त करके सुख दुःखादि का ज्ञाता हो जाता है । अतः कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जीव को अणु मान कर एक स्थान पर स्थित होने से उसे सारे शरीर में हुई पीड़ा, सुख-दुःख का ज्ञान कैसे हो जाता है ? इस शंका का समाधान इस सूत्र में किया गया है कि चन्दन की सुगन्ध की भाँति वह अपने विज्ञान रूप गुण के द्वारा समस्त शरीर में फैल जाता है जिससे सम्पूर्ण शरीर के सुख-दुःखों का ज्ञान हो जाता है ।

सूत्र २४ : 'अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाध्युपगमाद्धृदि हि ।'

भावार्थ : यदि कहो चन्दन और आत्मा की स्थिति में भेद है, इसलिए चन्दन का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, तो यह बात नहीं है क्योंकि हृदय देश में उसकी स्थिति स्वीकार की गई है ।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् (३/६) में कहा है, 'यह आत्मा

हृदय में स्थित है।' इस प्रकार आत्मा की स्थिति भी चन्दन के वृक्ष की भाँति एक देशीय है। इसलिए यह दृष्टान्त उपयुक्त है।

सत्र २५ : 'गुणाद्वा लोकवत् ।'

भावार्थ : अथवा यह समझो कि अणुपरिमाण वाले जीवात्मा का चेतनारूप गुण से समस्त शरीर को चेतना-युक्त कर देना सम्भव है क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या—लोक में भी यह देखा जाता है कि जिस प्रकार घर में एक स्थान पर रखा हुआ दीपक सारे घर को प्रकाशित कर देता है उसी प्रकार एक ही स्थान पर स्थित आत्मा सारे शरीर को चेतन कर देता है। इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं है।

सूत्र २६ : 'व्यतिरेको गन्धवत् ।'

भावार्थ : गन्ध की भांति गुण का गुणी से अलग होना बन सकता है। अतः कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार गन्ध अपने पुष्प गुणी से अलग होकर चारों ओर फैल सकती है उसी प्रकार आत्मा का चेतनता रूप गुण भी आत्मा से अलग होकर सारे शरीर में फैल सकता है। अतः कोई विरोध नहीं है।

सूत्र २७ : 'तथा च दर्शयति ।'

भावार्थ : ऐसा ही श्रुति भी दिखलाती है।

व्याख्या—बृहदारण्यक उपनिषद् (१/४/७) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (८/८/१) में भी यही दिखाया गया है कि आत्मा

एक जगह रहकर अपने गुण के द्वारा समस्त शरीर में नख से लोम तक व्याप्त रहता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा अणु है एवं एकदेशीय है।

सूत्र २८ : 'पृथगुपदेशात् ।'

भावार्थ : जीवात्मा के विषय में अणुपरिमाण से भिन्न उपदेश श्रुति में मिलता है। इसलिए जीवात्मा अणु नहीं विभु है।

व्याख्या—सूत्र २१ से २७ तक विभिन्न प्रमाणों द्वारा जीवात्मा का अणुरूप होना सिद्ध किया गया इस मत को अमान्य ठहराते हुए सूत्र २८ से २९ तक उसे विभु सिद्ध किया गया है।

इस सूत्र में बताया गया है कि यह जीवात्मा अणु नहीं बल्कि विभु (व्यापक है) कठोपनिषद् में जीवात्मा को 'महान्' कहा गया है। गीता में भी कहा गया है, 'यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है (गीता २/२४), 'जिस प्रकार सब जगह व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा भी शरीर में सब जगह स्थित है तो भी उससे लिप्त नहीं होता।' (गीता १३/३२) यह परमात्मा के लिए नहीं बल्कि जीवात्मा के लिए ही कहा गया है।

सूत्र २९ : 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।'

भावार्थ : वह कथन तो उस बुद्धि आदि के गुणों की प्रधानता को लेकर है। जैसे परमेश्वर को अणु और हृदय में स्थित अंगुष्ठ मात्र बताया है वैसे ही जीवात्मा के लिए भी समझना चाहिए।

व्याख्या—श्रुतियों में जहाँ जीवात्मा को अंगुष्ठ मात्र या अणु कहा गया है वह बुद्धि और शरीर के गुणों को लेकर ही है। यह कथन स्थान की अपेक्षा से ही है परमात्मा को भी जीवात्मा के हृदय में स्थित तथा अंगुष्ठ मात्र बताया है यह जीवात्मा की अपेक्षा से ही है। वास्तव में वह अणु नहीं, विभु है। इसमें कोई शंका नहीं है।

सूत्र ३० : 'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्।'

भावार्थ : जब तक स्थूल, सूक्ष्म या कारण इनमें से किसी भी शरीर के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध रहता है तब तक वह उस शरीर के अनुरूप एक देशी सा रहता है। इसलिए भी उक्त दोष नहीं है। श्रुति में भी ऐसा ही देखा गया है।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् (३/९-१०) में कहा गया है कि जीव का एक शरीर से दूसरे में जाते समय भी सूक्ष्म शरीर से संबंध बना रहता है। परलोक में भी उसका शरीर से सम्बन्ध माना गया है तथा सुषुप्ति और स्वप्न काल में भी देह के साथ उसका सम्बन्ध बताया गया है। इसी प्रकार प्रलय काल में भी कर्म-संस्कारों के सहित कारण शरीर से जीवात्मा का सम्बन्ध रहता है क्योंकि श्रुति में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रलय काल में यह विज्ञानात्मा समस्त इन्द्रियों के सहित उस परब्रह्म में स्थित रहता है (प्र० उ० ४/११) इसलिए सुषुप्ति काल और प्रलय काल में समस्त जीवों के मुक्त होने का तथा मुक्त पुरुषों के पुनर्जन्म आदि का कोई दोष नहीं आ सकता।

सूत्र ३१ : 'पुंस्त्वादिवत्वस्य स्तोऽभिव्यक्ति योगात्।'

भावार्थ : पुरुषत्व आदि की भांति पहले से विद्यमान इस

कारण शरीर आदि के सम्बन्ध का ही सृष्टि काल में प्रकट होने का योग है। इसलिए कोई दोष नहीं हैं।

व्याख्या—प्रलय काल में यद्यपि बुद्धि आदि तत्व स्थूल रूप में न रहकर अपने कारण रूप परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं तथा अव्यक्त रूप से विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भी अपने कारण शरीरों के सहित अव्यक्त रूप से ब्रह्म में विलीन रहते हैं उनके सम्बन्ध का सर्वथा नाश नहीं होता। वे ही सृष्टि काल में पुनः सूक्ष्म एवं स्थूल रूपों में प्रकट होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य में पुरुषत्व विद्यमान होते हुए भी बाल्य काल में प्रकट नहीं होता किन्तु युवावस्था में शक्ति के संयोग से वह प्रकट होता है, यही बात बीज और वृक्ष के रूप में समझी जा सकती है। इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं है।

सूत्र ३२ : **'नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतरनियमो वान्यथा।'**

भावार्थ : **जीव को अन्तःकरण के सम्बन्ध से विषय ज्ञान होता है। ऐसा न मानने पर उसे सदा ही विषयों के अनुभव होने का या कभी भी न होने का प्रसंग उपस्थित होगा, अथवा आत्मा की ग्राहक शक्ति या विषय की ग्राह्य शक्ति के नियमन की कल्पना करनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में अंतःकरण का सम्बन्ध मानना ही युक्ति संगत है।**

व्याख्या—जीवात्मा को अन्तःकरण के सम्बन्ध से ही पदार्थों का अनुभव होता है। जीवात्मा को अणु कहना उसकी

सूक्ष्मता का बोधक है तथा अंगुष्ठ मात्र कहना मनुष्य शरीर के हृदय के माप के अनुसार कहा गया है तथा उसे छोटे आकार वाला बताया गया है। वास्तव में वह विभु (सर्व-व्याप्त) एवं अतीत है।

सूत्र ३३ : 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्।'

भावार्थ : कर्ता जीवात्मा है क्योंकि विधि-निषेध बोधक शास्त्र की इसी में सार्थकता है।

व्याख्या—सांख्य मत के अनुसार पुरुष को असंग माना गया है तथा प्रकृति को स्वतन्त्र कर्ता माना गया है। किन्तु जड़ प्रकृति कर्ता नहीं हो सकती। इसलिए कर्ता जीवात्मा ही है। चेतन स्वयं कर्ता नहीं है तथा जड़ प्रकृति भी कर्ता नहीं है ऐसी स्थिति में जीवात्मा को ही कर्ता माना जा सकता है तथा वही भोक्ता भी है। इसी कारण विधि निषेध शास्त्र बनाये गये हैं।

सूत्र ३४ : 'विहारोपदेशात्।'

भावार्थ : स्वप्न में स्वेच्छा से विहार करने का वर्णन होने से भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा 'कर्ता' है।

व्याख्या—स्वप्नावस्था में स्वेच्छा पूर्वक घूमना फिरना, खेल तमाशा आदि कर्म करने से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा ही कर्ता है। प्रकृति से ऐसा स्वेच्छा पूर्वक कर्म नहीं हो सकता।

सूत्र ३५ 'उपादानात्।'

भावार्थ : इन्द्रियों को ग्रहण करके विचरने का वर्णन होने से भी वही सिद्ध होता है कि इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से जीवात्मा कर्ता है।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् (२/१/१८) में कहा गया है कि, 'जिस प्रकार कोई महाराज प्रजाजनों को साथ लेकर अपने देश में इच्छानुसार भ्रमण करता है, वैसे ही यह जीवात्मा स्वप्नावस्था में प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियों को ग्रहण करके इस शरीर में इच्छानुसार विचरता है।' इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति या इन्द्रियाँ स्वयं कर्ता नहीं है। उनसे युक्त हुआ जीवात्मा ही कर्ता है।

सूत्र ३६ : 'व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश विपर्ययः।'

भावार्थ : क्रिया करने में जीवात्मा के कर्तापन का श्रुति में कथन है। इसलिए भी जीवात्मा कर्ता है। यदि जीवात्मा को कर्ता मानना अभीष्ट न होता तो श्रुति का संकेत उसके विपरीत होता।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/५) में कहा गया है कि यह जीवात्मा यज्ञ का विस्तार करता है और उसके लिए कर्मों का विस्तार करता है।' इस प्रकार जीवात्मा को कर्मों का विस्तार करने वाला कहा जाने के कारण उसका कर्तापन सिद्ध होता है।

सूत्र ३७ : 'उपलब्धिवदनियमः।'

भावार्थ : सुख दुःखादि भोगों की प्राप्ति की भांति कर्म करने में भी नियम नहीं हैं।

व्याख्या—जीवात्मा यदि कर्म करने में स्वतन्त्र है तो वह अहितकारी कर्म क्यों करता है ? इस शंका का समाधान यहाँ किया गया है कि यद्यपि जीव नये कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के फलस्वरूप उस जीवात्मा का जो स्वभाव बन गया है उसी के अनुसार वह कर्म करता है।

इसलिए वह इन संस्कारों के अधीन है तथा इन्हीं के अनुसार फल भोगने में भी वह पराधीन है। कर्म फल ईश्वर स्वयं देता है। विवेक जाग्रत होने पर ही वह सदा सद् कर्म में प्रवृत्त हो सकता है।

सूत्र ३८ : 'शक्तिविपर्यात्।'

भावार्थ : शक्ति का विपर्यय होने के कारण भी विवेक का आदर किये बिना उसके द्वारा सर्वथा हिताचरण होने का नियम नहीं हो सकता।

व्याख्या—यह जीवात्मा सदा ही अपने का ही कार्य करने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि जीवात्मा का कर्तापन का उसके अनादि कर्म संस्कार तथा इन्द्रियों और शरीर आदि से सम्बन्ध है तथा प्रत्येक कर्म में सहकारी बाह्य कारणों की आवश्यकता होती है जिनकी उपलब्धि में वह सर्वथा परतन्त्र है। शरीर की शक्ति भी सदा अनुकूल नहीं रहती। इसलिए विवेक का आदर किए बिना सदा हितकारी आचरण नहीं हो सकता।

सूत्र ३९ : 'समाध्यभावाच्च।'

भावार्थ : समाधि अवस्था का अभाव प्राप्त होने से भी जीवात्मा का कर्तापन स्वाभाविक नहीं मानना चाहिए।

व्याख्या—जीवात्मा स्वयं कर्ता नहीं है। उसका कर्तापन अन्तःकरण आदि के सम्बन्ध से है। जीवात्मा स्वयं निष्क्रिय है, उसका स्वभाव नहीं है। क्योंकि समाधि अवस्था में कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है यदि उसका कर्तापन स्वाभाविक धर्म

होता तो समाधि अवस्था में भी वह सक्रिय रहता एवं समाधि की उपलब्धि हो ही नहीं सकती थी तथा उसमें भी वह निष्क्रिय नहीं हो सकता था। अत: यही सिद्ध होता है कि कर्तापन जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है।

सूत्र ४० : 'यथा च तक्षोभयथा।'

भावार्थ : इसके सिवा जैसे कारीगर कभी कर्म करता है, कभी नहीं करता, ऐसे दो प्रकार की स्थिति में देखा जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी दोनों प्रकार की स्थिति में रहता है। इसलिए उसका कर्तापन स्वरूपगत नहीं है।

व्याख्या - जिस प्रकार कोई कारीगर जब कार्य करता है तो उसे 'कर्ता' कहा जाता है एवं कार्य नहीं करने पर वह 'कर्ता' नहीं होता इस प्रकार इस जीवात्मा का जब अन्त:करण और इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है तभी वह कर्ता होता है तथा जब इनसे सम्बन्ध छोड़ देता है तब कर्ता नहीं होता। इसलिए इसका कर्तापन स्वभाव सिद्ध नहीं है। गीता (३/२७) में कहा गया है कि, 'वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं, तो भी जो अहंकार से मोहित हो गया है, वह पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' 'ऐसे मान लेता है।' गीता (१३/२९) में और कहा गया है 'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बात को तत्व से समझ लेता है कि प्रकृति से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है।' इनसे सिद्ध होता है कि शुद्ध आत्मा में कर्तापन नहीं है। उसका कर्तापन अन्त:करण और संस्कारों से है।

सूत्र ४१ : 'परात्तु तच्छ्रुते ।'

भावार्थ : यह जीवात्मा का कर्तापन परमेश्वर से ही है क्योंकि श्रुति के वचन से यही सिद्ध होता है ।

व्याख्या—बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है, 'जो जीवात्मा में रहकर उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी तेरा आत्मा है ।' (३/७/२२) इस प्रकार अन्य श्रुतियों में भी ऐसा ही कहा गया है कि यह जीवात्मा स्वतन्त्रता पूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता । वह जो कुछ करता है वह परब्रह्म के सहयोग से, उसकी दी हुई शक्ति से ही करता है । गीता (१८/६१) में भी कहा गया है कि जीव का कर्तापन ईश्वराधीन है किन्तु अहंकार वश वह अपने को कर्ता मानने से वह कर्म फलों का भोक्ता हो जाता है ।

सूत्र ४२ : 'कृत प्रयत्ना पेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।'

भावार्थ : किन्तु ईश्वर जीव के पूर्वकृत कर्म संस्कारों की अपेक्षा रखते हुए ही उसको नवीन कर्म करने की शक्ति और सामग्री प्रदान करता है इसलिए तथा विधि-निषेध शास्त्रों की सार्थकता आदि हेतुओं से भी ईश्वर सर्वथा निर्दोष है ।

व्याख्या—जीवात्मा को ईश्वर कर्म करने की शक्ति मात्र देता है तथा उसके पूर्व कृत कर्म संस्कारों के अनुसार वह उसे उचित वातावरण में पैदा कर उन्हीं के अनुसार सामग्री प्रदान करता है । इस शक्ति और सामग्री का सदुपयोग करने के लिए उसे विवेक भी दे दिया है जिसका उपयोग करके वह अपना मार्ग निश्चित कर सकता है । इसलिए वह कर्म करने में स्वतंत्र है । इसका दुरुपयोग करके वह अपने लिए स्वयं बाधक बनता

है। ईश्वर इसमें दोषी नहीं है। अच्छे कर्मों का विधान एवं बुरे कर्मों का निषेध शास्त्रों में इसी कारण किया गया है जिससे मनुष्य स्वयं अपने स्वभाव का सुधार कर सके। इसलिए मनुष्य ईश्वर के अधीन होता हुआ भी कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसलिए शुभाशुभ कर्मों के फल का दायित्व मनुष्य स्वयं पर है, ईश्वर इसमें दोषी नहीं है।

सूत्र ४३ : 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्व-मधीयत एके।'

भावार्थ : श्रुति में जीवों को बहुत और अलग-अलग बताया गया है इसलिए तथा दूसरे प्रकार से भी यही सिद्ध होता है कि जीव ईश्वर का अंश है क्योंकि एक शाखा वाले ब्रह्म को दाशकित व आदि रूप कहकर अध्ययन करते हैं।

व्याख्या—अथर्ववेद की शाखा वालों के ब्रह्मसूक्त में यह पाठ है कि, 'ये केवट ब्रह्म हैं, दास ब्रह्म है तथा ये जुआरी भी ब्रह्म ही है।' इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ये जीव तो अनेक हैं किन्तु ये सभी ब्रह्म ही हैं यानि ईश्वर ही के अंश हैं। यदि जीव को ईश्वर से भिन्न माना जाय तो उपर्युक्त कथन में विरोध आयेगा। पिता और सन्तान की भाँति जीवों को ईश्वर का अंश मानना ही युक्ति संगत है।

सूत्र ४४ : 'मन्त्रवर्णाच्च।'

भावार्थ : मन्त्रों के शब्दों से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (३/१२/६) में कहा गया है कि 'समस्त जीव समुदाय उस ब्रह्म का एक पाद (अंश) है

और उसके तीन पाद अमृत रूप दिव्य हैं ।' इस प्रकार जीवों को ईश्वर का अंश बताया गया है ।

सूत्र ४५ : 'अपि च स्मर्यते ।'

भावार्थ : इसके सिवा गीता आदि में यही स्मरण भी किया गया है ।

व्याख्या—इन मंत्रों के सिवा गीता (१५/७)में इसका अनुमोदन किया गया है कि, 'इस जीव लोक में यह जीव समुदाय मेरा ही अंश है ।' गीता(१०/४२)में कहा गया है कि,'मैं अपनी शक्ति के किसी एक अंश से इस समस्त जगत् को भली-भाँति धारण किये हुए स्थित हूँ ।' इस प्रकार स्मृतियों द्वारा समर्थन किए जाने से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है ।

सूत्र ४६ : 'प्रकाशादिवन्नेवं पर: ।'

भावार्थ : परमेश्वर इस प्रकार जीवात्मा के दोषों से सम्बद्ध नहीं होता जिस प्रकार कि प्रकाश आदि अपने अंश के दोषों से लिप्त नहीं होते ।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/२/११) में कहा गया है कि, 'जिस प्रकार समस्त लोकों के चक्षु: स्वरूप सूर्य देव चक्षु में होने वाले दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा अद्वितीय परमेश्वर लोकों के दु:खों से लिप्त नहीं होता ।' इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा ईश्वर का अंश होते हुए भी उसके सुख-दु:ख से ईश्वर लिप्त नहीं होता ।

सूत्र ४७ । 'स्मरन्ति च ।'

भावार्थ : यही बात स्मृतिकार कहते हैं और श्रुति में भी कही गई है।

व्याख्या—गीता (१३/३१) में कहा गया है, 'यह अविनाशी परमात्मा अनादि और गुणातीत होने के कारण शरीर में स्थित होता हुआ भी न तो स्वयं कर्ता है और न सुख दुःखादि फलों से लिप्त ही होता है।' महाभारत शान्ति पर्व (३५१/१४-१५) में कहा गया है, 'जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहता हुआ उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह जीव के कर्म-फलों से लिप्त नहीं होता।' मुण्डक उपनिषद् (३/१/१) में कहा गया है, 'इन दोनों में एक जीवात्मा तो सुख-दुःख रूप कर्म फल को भोगता है और परमेश्वर न भोगता हुआ देखता रहता है।' इनसे यही सिद्ध होता है कि परमात्मा दोषों से लिप्त नहीं होता।

सूत्र ४८ : 'अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्।'

भावार्थ : विधि और निषेध ज्योति आदि की भाँति शरीरों के सम्बन्ध से है।

व्याख्या—जीवात्मा का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के शरीरों के साथ होने से उनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुज्ञा और निषेध का व्यवहार किया जाता है जो अनुचित नहीं है जैसे श्मशान की अग्नि त्याज्य है और यज्ञ की अग्नि को ग्राह्य बताया गया है। इसी प्रकार शूद्र को सेवा करने के लिए आज्ञा दी गई है और ब्राह्मण के लिए उसका निषेध किया गया है। इसलिए यह विधि-निषेध रूप आदेश शरीर के सम्बन्ध से है।

सूत्र ४९ : 'असंततेश्चाव्यतिकरः ।'

भावार्थ : इसके सिवा शरीरों के आवरण से व्यापकता का निरोध होने के कारण उनका तथा उनके कर्मों का मिश्रण नहीं होगा ।

व्याख्या—जिस प्रकार जीवात्मा विभु होते हुए भी कारण शरीर के आवरण के कारण वे प्रलय काल में भी एक नहीं हो जाते उनका विभाग बना रहता है उसी प्रकार सृष्टि काल में भी शरीरों के सम्बन्ध से सब जीवों की व्याप्ति न होने के कारण उनके कर्मों का मिश्रण नहीं होता, विभाग बना रहता है क्योंकि शरीर, अन्तःकरण और अनादि कर्म संस्कारों के कारण उनकी व्यापकता परमेश्वर की भाँति नहीं है, किन्तु सीमित है । जिस प्रकार शब्द मात्र की आकाश में व्याप्ति होते हुए भी उनका मिश्रण नहीं होता, उनकी भिन्नता बनी रहती है तभी तो रेडियो पर उनको अलग-अलग सुन सकते हैं इसी प्रकार आत्मा का भी विभुत्व होते हुए भी कारण-शरीर के कारण उनका मिश्रण नहीं होता । उनकी भिन्नता बनी रहती है ।

सूत्र ५० : 'आभासा एव च ।'

भावार्थ : इसके सिवा अन्य प्रकार की मान्यता के समर्थन में दिये जाने वाले युक्ति प्रमाण आभास मात्र ही हैं ।

व्याख्या—जो लोग जीवात्मा को परब्रह्म का अंश नहीं मानते तथा सब जीवों को स्वतन्त्र व अलग-अलग मानते हैं उन्होंने जो युक्ति प्रमाण दिये हैं वे सबके सब आभास मात्र हैं ।

उनका कथन ठीक नहीं है। सभी श्रुतियों में जीवात्मा को परमात्मा का अंश ही माना गया है जो युक्ति संगत है।

सूत्र ५१ : 'अदृष्टानियमात्।'

भावार्थ : अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तर में किये हुए कर्म फल भोग की कोई नियत व्यवस्था नहीं हो सकेगी। इसलिए उपाधि के निमित्त से जीवों को परमात्मा का अंश मानना युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या—यहाँ यह शंका उपस्थित की गई है कि जीवों को परमात्मा का अंश न मानकर स्वतन्त्र मानने तथा घटाकाश की भाँति उपाधि के निमित्त से जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानने में क्या आपत्ति है? इसके समाधान में कहा गया है कि ऐसा मानने में जीवों के कर्म फल की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, जीवों को स्वतन्त्र मानने में उनके कर्म-फल भोग की व्यवस्था कौन करेगा? जीव स्वयं इसकी व्यवस्था नहीं कर सकता क्योंकि वे जड़ हैं। फिर परमात्मा अलग रहकर इसकी व्यवस्था नहीं कर सकता। इसलिए यह मानना युक्ति संगत है कि परमात्मा का जीवात्मा से पिता-पुत्र की भाँति उसी का अंश है।

सूत्र ५२ : 'अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्।'

भावार्थ : इसके सिवा इसी प्रकार संकल्प आदि में भी अव्यवस्था होगी।

व्याख्या—यदि जीवात्मा को ईश्वर का अंश न माना जाय तो कर्म फल भोग की व्यवस्था की भाँति ही जीवों के संकल्प और इच्छा आदि की नियमित व्यवस्था होने में भी बाधा उप-

स्थित होगी। शास्त्र में परब्रह्म के द्वारा संकल्प पूर्वक जगत् की उत्पत्ति करने का वर्णन है, उसकी भी संगति नहीं बैठ सकेगी। अतः जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानना ही उचित है।

सूत्र ५३ : 'प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्।'

भावार्थ : यदि कहो उपाधियों में देश भेद होने से सब व्यवस्था हो जायेगी, तो यह नहीं हो सकता क्योंकि सभी देशों का उपाधि में और उपाधियों का सब देशों में अन्तर्भाव है।

व्याख्या—यहाँ फिर यह कहा गया है कि उपाधियों के देश भेद के कारण कर्म फल भोग की व्यवस्था हो जायेगी तो यह मानना ठीक नहीं है। उपाधियों के देश भेद से परमात्मा में देश भेद नहीं हो जाता। जिस प्रकार समस्त आकाश के प्रदेश का सब उपाधियों में (घटाकाश आदि) अन्तर्भाव होता है इसी प्रकार जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानना ठीक है। उसे घटाकाश की भाँति उपाधि निमित्त नहीं माना जा सकता।

॥ तीसरा पाद सम्पूर्ण ॥

दूसरा अध्याय

चौथा पाद

सूत्र १ : 'तथा प्राणाः ।'

भावार्थ : उसी प्रकार प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियाँ भी परमेश्वर से ही उत्पन्न होती हैं ।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (२/१/३) में कहा गया है कि 'इस परब्रह्म परमेश्वर से ही प्राण, मन, समस्त इंद्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सबको धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है ।' इस प्रकार इन्द्रियों की उत्पत्ति का श्रुतियों में वर्णन होने से यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ भी उस परमेश्वर से ही उत्पन्न होती है ।

सूत्र २ : 'गौण्यसम्भवात् ।'

भावार्थ : संभव न होने के कारण वह श्रुति गौणी है अर्थात् उसका कथन गौण रूप से है ।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/६/४) में कहा गया है कि, 'भक्षण किये हुए तेज का जो सूक्ष्म अंश है, वह एकत्र होकर वाणी बनता है ।' यहाँ वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति का हेतु तैजस पदार्थ को गौण रूप से कहा गया है इसलिए यह श्रुति गौणी है । यही मानना ठीक है ।

सूत्र ३ : 'तत्प्राक्श्रुतेश्च ।'

भावार्थ : श्रुति के द्वारा आकाशादि तत्वों से पहले इन्द्रियों की उत्पत्ति कही गई है। इसलिए भी तेज आदि से वाक् आदि इन्द्रिय की उत्पत्ति कहने वाली श्रुति गौण है।

व्याख्या—उपर्युक्त श्रुति को गौण इसलिए कहा गया है कि शतपथ ब्राह्मण (६/१/१/१) में ऋषियों के नाम से इंद्रियों का पांच तत्वों की उत्पत्ति से पहले होना वताया गया है तथा मुण्डकोपनिषद् में भी इन्द्रियों की उत्पत्ति पाँच भूतों से पहले बताई गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि आकाशादि तत्वों से इंद्रियों की उत्पत्ति नहीं हुई है। अतः तेज से वाक् की उत्पत्ति सूचित करने वाली श्रुति गौण है।

सूत्र ४ : 'तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।'

भावार्थ : वाणी की उत्पत्ति का वर्णन तीनों तत्वों में उस ब्रह्म के प्रविष्ठ होने के बाद है। इसलिए तेज से उसकी उत्पत्ति सूचित करने वाली श्रुति गौण है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/३/३) में कहा है कि, "उन तीन तत्वरूप देवताओं में जीवात्मा के सहित प्रविष्ठ होकर उस ब्रह्म ने नाम रूपात्मक जगत् की रचना की। इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से प्रवेश पूर्वक बताई गई है। इसलिए भी यही सिद्ध होता है कि समस्त इंद्रियों की उत्पत्ति ब्रह्म से ही हुई है, तेज आदि तत्वों से नहीं। अतः उपर्युक्त श्रुति गौण है।

सूत्र ५ : 'सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ।'

भावार्थ : इन्द्रियाँ सात हैं क्योंकि सात ही ज्ञात होती हैं तथा 'सप्त प्राणाः' कहकर श्रुति ने 'सप्त' पद का प्राणों (इन्द्रियों) के विशेषण रूप से प्रयोग किया है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (२/१/८) में कहा गया है कि 'उसी परमेश्वर से सात प्राण उत्पन्न होते हैं तथा अग्नि की (काली, कराली आदि) सात लपटें, सात विषय रूपी समिधाएँ सात प्रकार के हवन तथा ये सात लोक-इन्द्रियों के सात द्वार उसी से उत्पन्न होते हैं जिनमें प्राण विचरते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ सात ही हैं (आँख, कान, नाक रसना, त्वचा, वाक् और मन)। इसमें 'सप्त' पद का प्राणों (इंद्रियों) के विशेषण रूप में प्रयोग किया है। इस प्रकार इन्द्रियों की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है और वह पाँच तत्वों से पहले ही हो जाती है, यह सिद्ध किया गया है।

सूत्र ६ : 'हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।'

भावार्थ : किन्तु हाथ आदि अन्य इन्द्रियाँ भी हैं इसलिए इस स्थिति में ऐसा नहीं कहना चाहिए कि इन्द्रियाँ सात ही हैं।

व्याख्या—सूत्र ५ में सात ही इन्द्रियों का होना सिद्ध किया है किन्तु प्रश्नोपनिषद् (४/८), गीता (१३/५) तथा वृहदारण्यक उपनिषद् (३/६/४) में इन सात इन्द्रियों के साथ हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा ये चार इन्द्रियाँ और हैं जिनसे मन सहित कुल ग्यारह इन्द्रियाँ बताई गई हैं। अतः इन्द्रियाँ सात नहीं, ग्यारह हैं, यही मानना चाहिए।

सूत्र ७ : 'अणवश्च ।'

भावार्थ : तथा सूक्ष्म भूत यानी तन्मात्राएँ भी उस परमेश्वर से ही उत्पन्न होती हैं ।

व्याख्या—जिस प्रकार इन्द्रियों की उत्पत्ति परमेश्वर से होती है उसी प्रकार पांच महाभूतों के जो सूक्ष्म रूप हैं वे भी परमेश्वर से ही उत्पन्न होते हैं। प्रश्नोपनिषद् (४/८) में इसे मात्रा के नाम से कहा गया है ।

सूत्र ८ : 'श्रेष्ठश्च ।'

भावार्थ : मुख्य प्राण भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न होता है ।

व्याख्या—इंद्रियों की भाँति मुख्य प्राण जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नाम से कहा गया है वह भी परमात्मा से ही उत्पन्न होता है जिसे इन्द्रियों से श्रेष्ठ माना गया है मुण्डक उपनिषद् (२/१/३) में भी यही कहा गया है कि, 'इसी परमेश्वर से प्राण उत्पन्न होता है ।'

सूत्र ९ : 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।'

भावार्थ : श्रुति में वर्णित मुख्य प्राण, वायु तत्व और उसकी क्रिया नहीं है, क्योंकि उन दोनों से अलग इसका वर्णन है ।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (२/१/३) में जहाँ प्राण की उत्पत्ति का वर्णन है वहीं वायु की उत्पत्ति का अलग वर्णन है, 'इसी परमेश्वर से प्राण उत्पन्न होता है तथा मन (अन्तःकरण) समस्त इंद्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वी ये सब उत्पन्न होते हैं ।' इसलिए

मुख्य प्राण न तो वायु तत्व है और न वायु की क्रिया का ही नाम मुख्य प्राण है। वह इन दोनों से भिन्न पदार्थ है। यही सिद्ध होता है।

सूत्र १० : 'चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः।'

भावार्थ : किन्तु प्राण भी चक्षु आदि इन्द्रियों की भाँति जीवात्मा का उपकरण है क्योंकि उन्हीं के साथ प्राण और इन्द्रियों के संवाद में इसका वर्णन किया गया है तथा उनकी भांति यह जड़ भी है ही।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१/६-१२) में यह सिद्ध किया गया है कि इन्द्रियों से प्राण श्रेष्ठ है क्योंकि उसके शरीर से निकल जाने पर सभी इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। किन्तु यह प्राण भी जीवात्मा के अधीन है किन्तु यह भी इन्द्रियों की भाँति जड़ है। केवल जीवात्मा ही चेतन है।

सूत्र ११ : 'अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति।'

भावार्थ : निश्चय ही इन्द्रियों की भांति विषयों के उपभोग में करण न होने के कारण उक्त दोष नहीं है क्योंकि इसका करण होना कैसा है यह बात श्रुति स्वयं दर्शाती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१/६)से प्रकरण समाप्ति तक तथा प्रश्नोपनिषद् (३/१ से १२ तक)यही बात दिखाई गई है कि यद्यपि प्राण इन्द्रियों की भाँति विषयों के उपभोग में करण नहीं है किन्तु वह जीवात्मा का करण है क्योंकि शरीर और इन्द्रियों का पोषण प्राण से ही होता है तथा वही उन्हें धारण करता है। प्राण के संयोग से ही जीवात्मा एक शरीर को छोड़

कर दूसरे शरीर में जाता है। इस प्रकार श्रुति में इसके करण भाव को दिखाया है।

सूत्र १२ : 'पंचवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते।'

भावार्थ : श्रुति के द्वारा यह मन की भांति पांच वृत्तियों वाला बताया गया है।

व्याख्या—जिस प्रकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के रूप में मन की पाँच वृत्तियाँ हैं उसी प्रकार प्राण को भी पाँच वृत्ति वाला बताया गया है (प्राण, व्यान, अपान, समान, उदान)। इनके द्वारा यह जीवात्मा के अनेक प्रकार से उपयोग में आता है। इसलिए भी प्राण को जीवात्मा का उपकरण मानना उचित है।

सूत्र १३ : 'अणुश्च।'

भावार्थ : यह सूक्ष्म भी है।

व्याख्या— यह प्राण तत्व अपनी पाँच वृत्तियों के द्वारा स्थूल रूप से उपलब्ध होता है किन्तु यह सूक्ष्म भी है। सूक्ष्मतम के कारण यह व्यापक होने पर भी सीमित है।

सूत्र १४ : 'ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्।'

भावार्थ : ज्योति आदि तत्व जिसके अधिष्ठान बताये गये हैं, वह तो ब्रह्म ही है क्योंकि दूसरी जगह भी श्रुति के द्वारा उसी को अधिष्ठाता बताया गया है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/३-४) में कहा गया है कि, मैं बहुत हो जाऊँ, तब उसने तेज की रचना की, फिर तेज

ने विचार किया।' तैत्तिरीयोपनिषद् (२/६) में कहा है इस जगत् की रचना करके उसने उसमें जीवात्मा के साथ-साथ प्रवेश किया।' इस वर्णन से यही सिद्ध होता है कि तेज आदि तत्व का अधिष्ठाता वह परब्रह्म ही है स्वतन्त्र जड़ तत्व नहीं।

सूत्र १५ : 'प्राणवता शब्दात् ।'

भावार्थ : ब्रह्म ने प्राणधारी जीवात्मा के सहित प्रवेश किया ऐसा श्रुति का कथन होने से यह दोष नहीं है।

व्याख्या—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा है अथवा परब्रह्म। इस पर कहा गया है कि परब्रह्म ने ही जीवात्मा के सहित इन तीनों देवताओं में प्रविष्ट होकर जगत् की रचना की (छा० उ० ६/३/२)। कठोपनिषद् में भी परमात्मा और जीवात्मा को हृदय रूप गुहा में स्थित कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा और परमात्मा सदा साथ-साथ रहने वाले हैं। इसलिए शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा को मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

सूत्र १६ : तस्य च नित्यत्वात् ।'

भावार्थ—उस जीवात्मा की नित्यता प्रसिद्ध होने के कारण भी उसकी उत्पत्ति का वर्णन करना उचित ही है।

व्याख्या—जीवात्मा को नित्य माना गया है। सृष्टि के समय शरीर की उत्पत्ति के साथ-साथ गौण रूप से ही उसकी उत्पत्ति बताई गई है, वास्तव में उसकी उत्पत्ति नहीं मानी गई है। इसलिए पंचभूतों की उत्पत्ति के पहले या बाद में उसकी उत्पत्ति न बतलाकर जो जीवात्मा के सहित परमेश्वर का

शरीर में प्रविष्ट होना कहा गया है, वह उचित ही है। उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

सूत्र १७ : 'त इन्द्रियाणि तदव्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्।'

भावार्थ : वे मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुख्य प्राण से भिन्न हैं क्योंकि दूसरी श्रुतियों में उसका भिन्नता से वर्णन है।

व्याख्या—दूसरी श्रुतियों में मुख्य प्राण की गणना इन्द्रियों से अलग की गई है तथा इन्द्रियों को प्राणों के नाम से नहीं कहा गया है। इसलिए मन सहित ये ग्यारह इन्द्रियाँ मुख्य प्राण से भिन्न हैं। इन्द्रियों की स्थिति मुख्य प्राण के अधीन है; इसलिए गौण रूप से श्रुति में इन्द्रियों को प्राण नाम से कहा गया है।

सूत्र १८ : 'भेदश्रुते।'

भावार्थ : इन्द्रियों से मुख्य प्राण का भेद सुना गया है, इसलिए भी मुख्य प्राण उनसे भिन्न तत्व सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुति में जहाँ इन्द्रियों का प्राण के नाम से वर्णन आया है, वहाँ भी उनका मुख्य प्राण से भेद कर दिया है। इनसे सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण इन सबसे भिन्न है।

सूत्र १९ : 'वैलक्षण्याच्च।'

भावार्थ : परस्पर विलक्षणता होने के कारण भी यही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण से इन्द्रियाँ भिन्न पदार्थ हैं।

व्याख्या—इन्द्रियों की अपेक्षा मुख्य प्राण की एक विलक्षणा

यह भी है कि सुषुप्ति की अवस्था में इन्द्रियाँ और अंतः करण विलीन हो जाते हैं किन्तु उस समय भी मुख्य प्राण जागता रहता है। इससे यही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण से इन्द्रियाँ भिन्न हैं।

सूत्र २० : 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्।'

भावार्थ : नाम रूप की रचना भी तीनों तत्वों का मिश्रण करने वाले परमेश्वर का ही कर्म है। क्योंकि वहाँ श्रुति के वर्णन से यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—इस समस्त नाम-रूपात्मक जगत् की रचना करना जीवात्मा का काम नहीं है क्योंकि जीवात्मा के कर्म-संस्कारों के अनुसार उसको कर्म करने की शक्ति आदि और प्रेरणा देने वाला वही परमात्मा है। अतः इस नाम रूप वाली जड़-चेतनात्मक जगत् की रचना रूप क्रिया उस परब्रह्म परमेश्वर की ही है जिसने उन तीन तत्व (तेज, जल, पृथ्वी) को उत्पन्न करके उनका मिश्रण किया। अन्य किसी की नहीं।

सूत्र २१ : 'मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च।'

भावार्थ : जिस प्रकार मांस आदि पृथ्वी के कार्य बताये गये हैं वैसे ही वहाँ श्रुति के शब्द द्वारा बताये अनुसार दूसरे दोनों तत्वों का कार्य भी समझ लेना चाहिए।

व्याख्या—भूमि यानी पृथ्वी के कार्य को 'भौम' कहते हैं। उस प्रकरण में जिस प्रकार भूमि रूप अन्न के कार्य माँस, विष्ठा और मन ये तीनों बताये गये हैं उस प्रकरण के शब्दों से जिस-जिस तत्व के जो-जो कार्य बताये गए हैं उसके वे ही

कार्य हैं ऐसा समझ लेना चाहिए। वहाँ श्रुति ने जल का कार्य मूत्र, रक्त और प्राण को तथा तेज का कार्य हड्डी, मज्जा और वाणी को बतलाया है। इस प्रकार तेज, जल और पृथ्वी इन तीनों मूल तत्वों के मिश्रण से जगत् की रचना होती है। यही इससे सिद्ध होता है।

सूत्र २२ : 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः।'

भावार्थ : वह कथन तो अधिकता के नाते से है।

व्याख्या—इन तीनों तत्वों के मिश्रण में भी एक की अधिकता और दूसरों की न्यूनता रहती है। अतः जिसकी अधिकता को लेकर व्यवहार में मिश्रित तत्वों का अलग-अलग नाम से कथन किया जाता है। इसलिए कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकारण में 'मन' को अन्न (पृथ्वी) का कार्य, 'प्राणों, को जल का कार्य और जलमय कहा गया है तथा 'वाणी' को तेज का कार्य और तेजोमयी कहा गया है वह भी उन-उन तत्वों के सम्बन्ध से गौण रूप से ही कहा हुआ मानना चाहिए। वास्तव में मन, प्राण और वाणी आदि इन्द्रियाँ भूतों का कार्य नहीं है, बल्कि भूतों से भिन्न पदार्थ हैं। यह पहले सिद्ध किया जा चुका है।

॥ चौथा पाद सम्पूर्ण ॥

॥ दूसरा अध्याय सम्पूर्ण ॥

तीसरा अध्याय (साधनाध्याय)

पहला पाद

सूत्र १ : 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।'

भावार्थ : उक्त देह के बाद देहान्तर की प्राप्ति के समय यह जीवात्मा शरीर के बीज रूप सूक्ष्म तत्वों से युक्त हुआ जाता है। यह बात प्रश्न और उसके उत्तर से सिद्ध होती है।

व्याख्या—इस अध्याय में परमात्मा की प्राप्ति के साधनों का वर्णन होने से इसे 'साधनाध्याय' कहा गया है। इसके पहले पाद में जीवात्मा के शरीर परिवर्तन किस प्रकार होते हैं इसका वर्णन है। इस सूत्र में यह बताया गया है कि मृत्यु के बाद यह जीवात्मा केवल स्थूल शरीर का त्याग करता है। अन्य सूक्ष्म तत्वों को वह साथ लेकर जाता है। कर्मों की गति के अनुसार ये सूक्ष्म तत्व भी विभिन्न लोकों में छूटते जाते हैं व अन्त में उसे ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है।

इन सूक्ष्म तत्वों में मुख्य 'जल' तत्व को बताया गया है जिसकी पाँचवीं आहुति में वह पुरुष रूप हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् (५/३/१ से ५/६/२ तक) इसका विस्तार से प्रश्नोत्तर रूप में राजा प्रवाहण ने ऋषि कुमार श्वेतकेतु तथा

उसके पिता को समझाई थी। राजा ने कहा कि 'द्यूलोक रूप अग्नि में श्रद्धा (संकल्प) की पहली आहुति देने से 'सोम' की उत्पत्ति होती है। फिर सोम की आहुति मेघ रूपी अग्नि में देने से वर्षा की उत्पत्ति होती है। तीसरी आहुति पृथ्वी रूप अग्नि में वर्षा की आहुति देने से अन्न की उत्पत्ति होती है। चौथी आहुति में पुरुष रूप अग्नि में अन्न की आहुति दी जाती है जिससे वीर्य की उत्पत्ति होती है तथा पांचवीं आहुति में स्त्री रूप अग्नि में वीर्य की आहुति दी जाती है। जिससे गर्भ की उत्पत्ति होकर 'पुरुष' की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पाँचवीं आहुति अर्थात प्रक्रिया से गुजर कर जल ही पुरुष बन जाता है। इससे सिद्ध होता है कि समस्त तत्वों का समुदाय बीज रूप में जल में निहित है जिसे सूक्ष्म शरीर सहित वीर्य में स्थित जीवात्मा कहा गया है इसी प्रकार जीवात्मा जब एक शरीर से दूसरे शरीर में मृत्यु के उपरान्त जाता है तो इन सभी सूक्ष्म तत्वों को साथ लेकर जाता है जो उसके बीज रूप हैं। इन्हीं से पुनः नये शरीर का निर्माण होता है।

सूत्र २ : 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्।'

भावार्थ : शरीर तीनों तत्वों का सम्मिश्रण है। इसलिए जल के कहने से सबका ग्रहण हो जाता है तथा वीर्य में सबसे अधिक जल का भाग रहता है इसलिए जल के नाम से उसका वर्णन किया गया है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/३/३) में जगत् की उत्पत्ति के वर्णन में कहा जा चुका है कि तीनों तत्वों (तेज, जल और पृथ्वी) का सम्मिश्रण करके उसके बाद परमेश्वर ने

नाम और रूप को प्रकट किया। इन तीनों तत्वों में सभी तत्वों का मिश्रण समझ लेना चाहिए। वीर्य में सभी भौतिक तत्व रहते हैं तथापि जल की अधिकता होने से वहाँ उसी के नाम से उसका वर्णन किया गया है। एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते समय जीव प्राण में स्थित होकर जाते हैं और प्राण को आपोमय (जल रूप) कहा गया है। इसलिए पुरुष की उत्पत्ति जल से बताना युक्ति संगत है। इस प्रकार जीवात्मा इन सूक्ष्म तत्वों से युक्त हुआ ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है।

सूत्र ३ : 'प्राणगतेश्च।'

भावार्थ : जीवात्मा के साथ प्राणों के गमन का वर्णन होने से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् (३/१) में आश्वलायन मुनि ने पिप्पलाद से प्राण के विषय में छः प्रश्न किये जिनमें चौथा प्रश्न यही था कि, 'यह एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते समय पहले शरीर से किस प्रकार निकलता है ?' इसके उत्तर में पिप्पलाद ने कहा, 'जब इस शरीर से उदान वायु निकलता है तब यह शरीर ठंडा हो जाता है, उस समय जीवात्मा मन में विलीन हुई इन्द्रियों को साथ लेकर उदान वायु के सहित दूसरे शरीर में चला जाता है। उस समय जीवात्मा जैसा संकल्प करता है, उस संकल्प और मन इन्द्रियों के सहित यह प्राण में स्थित हो जाता है। वह प्राण उदान के सहित जीवात्मा को उसके संकल्पानुसार भिन्न-भिन्न लोकों (योनियों) में ले जाता है।' (प्र० उ० ३/९-१०) इस प्रकार जीवात्मा के साथ प्राण और मन-इन्द्रियाँ आदि के गमन का वर्णन होने से भी यही सिद्ध होता है कि बीज रूप सभी सूक्ष्म

तत्वों के सहित यह जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। इस प्रकार प्राण का सहयोग आवश्यक है क्योंकि गति प्राण के ही अधीन है, प्राण को जलमय बताया गया है। इस प्रकार श्रुति के वर्णन की संगति बैठ जाती है। गीता (१५/८) में भी कहा है, 'यह जीवात्मा भी जिस पहले शरीर को त्यागता है उससे इन मन सहित सब इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है उसमें जाता है।'

सूत्र ४ : 'अग्न्यादिगति श्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।'

भावार्थ : यदि कहो कि अग्नि आदि में प्रवेश करने की बात श्रुति में कही गई है इसलिए यह सिद्ध नहीं होता तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वह श्रुति अन्य विषयक होने से गौण है।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् (३/२/१३) में कहा गया है कि, मरण काल में वाणी अग्नि में विलीन हो जाती है, प्राण वायु में विलीन हो जाते हैं' इत्यादि। किन्तु यह प्रश्न के रूप में कही गई है इसलिए यह वर्णन गौण है।

सूत्र ५ : 'प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्नता एव सुपपत्ते ।'

भावार्थ : यदि कहा जाय कि प्रथम आहुति के वर्णन में जल का नाम नहीं सुना गया है, इसलिए अन्त में यह कहना कि पाँचवीं आहुति में जल पुरुष नाम वाला हो जाता है, विरुद्ध है, तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि पूर्वापर की संगति से यही सिद्ध होता है कि वहाँ श्रद्धा के नाम से उस जल का ही कथन है।

व्याख्या—पूर्व सूत्र में श्रद्धा को सर्व प्रथम हवनीय द्रव्य का

रूप दिया गया है तथा पाँचवीं आहुति में जल को पुरुष होना बताया गया है किन्तु वहाँ श्रद्धा के नाम से संकल्प में स्थित जल आदि समस्त सूक्ष्म तत्वों का ग्रहण है। अन्त में उसी को जल कहा गया है। इसलिए इनमें कोई विरोध नहीं है। संकल्प के अनुसार जो सूक्ष्म तत्वों का समुदाय प्राण में स्थित होता है उसी को श्रद्धा के नाम से कहा गया है।

सूत्र ६ : 'अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादि कारिणां प्रतीतेः।'

भावार्थ : **यदि ऐसा कहा जाय कि श्रुति में तत्वों के साथ जीवात्मा के गमन का वर्णन नहीं है, इसलिए उनके सहित जीवात्मा जाता है, यह कहना युक्ति संगत नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उसी प्रसंग में अच्छे बुरे कर्म करने वालों का वर्णन है अतः इस श्रुति में उन शुभाशुभकारी जीवात्माओं के वर्णन की प्रतीति स्पष्ट है। इसलिए उक्त विरोध यहाँ नहीं है।**

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/७) में कहा गया है कि, 'जो अच्छे आचरणों वाले होते हैं वे उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं और जो नीच कर्म करने वाले होते हैं वे नीच योनि को प्राप्त होते हैं।' इससे सिद्ध होता है कि जीवात्मा उन तत्वों के साथ एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

सूत्र ७ : 'भाक्तं वानात्मवित्त्वातथा हि दर्शयति।'

भावार्थ : **वे लोग आत्मज्ञानी नहीं हैं, इस कारण आत्मज्ञानी की अपेक्षा उनकी हीनता दिखाने के लिए ही उनको देवताओं का अन्न बताने वाली श्रुति**

गौण है। क्योंकि उस प्रकार से उनकी हीनता और स्वर्गलोक में नाना प्रकार के भोगों को भोगना ही श्रुति दिखलाती है।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् (६/२/१६) में कहा गया है कि, 'वह स्वर्ग में जाने वाला पुरुष देवताओं का अन्न है, देवता लोग उसका भक्षण करते हैं।' यह बात उन सकाम भाव से शुभ कर्म करने वालों के लिए कही गई है जो आत्म-ज्ञानी नहीं हैं। इसका अर्थ है कि ऐसे लोग देवताओं के सेवक होते हैं। इसी उपनिषद् (१/४/१०) में कहा गया है कि 'जो परमेश्वर को न जानकर अन्य देवताओं की उपासना करता है वह देवताओं का पशु होता है।' यह आत्मज्ञान को प्रतिष्ठा देने के लिए गौण रूप से कहा गया है। इसी उपनिषद् (४/३/३३) में कहा गया है कि, 'पितृलोक पर विजय पाने वालों की अपेक्षा सौगुना आनन्द कर्मों से देवभाव को प्राप्त होने वालों को होता है। गीता (९/२७) में भी कहा गया है, 'वे वहाँ स्वर्ग लोक के भोगों को भोग कर पुण्यक्षीण होने पर पुनः मृत्यु लोक में लौट आते हैं।' इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उनको देवताओं का अन्न कहना गौण रूप से है। वास्तव में वे कर्मों का फल भोगकर पुनः लौट आते हैं।

सूत्र ८ : कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च।'

भावार्थ : किये हुए पुण्य कर्मों का क्षय होने पर शेष कर्म-संस्कारों से युक्त जीवात्मा जैसे गया था उसी मार्ग से अथवा इससे भिन्न किसी दूसरे प्रकार से लौट आता है। श्रुति और स्मृतियों से यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या – इस सूत्र में यह कहा गया है कि पुण्य कर्म करने वाले स्वर्ग को जाते हैं किन्तु उनका भोग समाप्त होने पर अन्य जो कर्म शेष रह जाते हैं उनके कारण वे उसी मार्ग से तथा भिन्न मार्ग से पुनः लौट कर जन्म धारण करते हैं। ये अच्छे कुल, रूप आदि को प्राप्त होते हैं।

सूत्र ९ : 'चरणादिति चेन्नोप लक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनि ।'

भावार्थ : यदि ऐसा कहो कि 'चरण' शब्द का प्रयोग है, इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि वह शेष कर्म संस्कारों को साथ लेकर आता है, तो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वह कथन अनुशय (शेष संस्कारों) का उपलक्षण करने के लिए है। यह बात कार्ष्णाजिनि नामक आचार्य कहते हैं।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/७) में 'रमणीय चरणा' शब्द का प्रयोग हुआ है उसमें 'चरण' शब्द कर्म संस्कार का वाचक नहीं है इसलिए यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा स्वर्ग लोक से लौटते समय बचे हुए कर्म संस्कारों को लेकर लौटता है। तो यह कहना ठीक नहीं है। इसका अर्थ यही है कि जीवात्मा भुक्त शेष संस्कारों को लेकर लौटता है।

सूत्र १० : 'आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।'

भावार्थ : यदि कहो बिना किसी कारण के उप लक्षण के रूप में 'चरण' शब्द का प्रयोग करना निरर्थक है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कर्माशय में आचरण आवश्यक है।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि 'चरण' शब्द का प्रयोग कर्म संस्कार के उपलक्षण के रूप में करना निरर्थक है तो यह

ठीक नहीं है क्योंकि कर्म संस्कार रूप अनुशय पूर्वकृत शुभाशुभ आचरणों से ही बनता है। इसलिए कर्माशय के लिए 'चरण' शब्द का प्रयोग निरर्थक नहीं है।

सूत्र ११ : 'सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः।'

भावार्थ : बादरि आचार्य तो ऐसा मानते हैं कि इस प्रकरण में 'चरण' नाम से शुभाशुभ कर्म ही कहे गये हैं।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/७) में 'रमणीय चरण' एवं कपूयचरण' शब्द आये हैं जो पुण्य-कर्म एवं पाप कर्मों के ही वाचक हैं ऐसा आचार्य बादरि का मत है। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा बचे हुए कर्मों को साथ लेकर लौटता है।

सूत्र १२ : 'अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्।'

भावार्थ : किन्तु अशुभ आदि कर्म करने वालों का भी चंद्र-लोक में जाना वेदों में सुना गया है।

व्याख्या—कौषीतकि उपनिषद् (१/२) में कहा गया है कि, 'जो कोई भी इस लोक से जाते हैं, वे सब चन्द्रमा को ही प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार सभी का चन्द्रलोक में जाना कहा गया है। यह शंका प्रकट की गई है कि इसके अनुसार क्या अशुभ कर्म करने वाले भी चन्द्रलोक में जाते हैं? इसका समाधान अगले सूत्र में किया गया है।

सूत्र १३ : 'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरो हौ तदगति दर्शनात्।'

भावार्थ : किन्तु दूसरों का अर्थात् पाप कर्म करने वालों का यमलोक में पाप कर्मों का फल भोगने के बाद

चढ़ना-उतरना होता है क्योंकि उनकी गति श्रुति में इसी प्रकार देखी जाती है।

व्याख्या—यहाँ पापी लोगों का चन्द्रलोक में जाना नहीं कहा गया है। पुण्य कर्म वाले ही स्वर्ग लोक में जाते हैं। बुरे कर्मों का फल भोगने के लिए पापी यमलोक को जाते हैं तथा वहाँ फल भोगने के बाद वे पुनः मृत्युलोक में आते हैं। ऐसा श्रुति में कहा गया है। कौषीतकि उपनिषद् में जो कहा गया है वह पुण्य कर्म करने वालों के लिए ही कहा गया है। इसलिए दोनों में कोई विरोध नहीं है।

सूत्र १४ : 'स्मरन्ति च।'

भावार्थ : तथा स्मृति में भी इसी बात का समर्थन किया गया है।

व्याख्या - गीता (१६/१६) में कहा गया है कि, 'वे अनेक प्रकार के विचारों से भ्रान्त हुए, मोहजाल में फंसे हुए और भोगों के उपभोग में रचे-पचे हुए मूढ़ लोग कुम्भीपाक आदि अपवित्र नरकों में गिरते हैं।' इस प्रकार स्मृति के वर्णन से भी इसी बात का समर्थन होता है कि पाप कर्मियों का नरक में गमन होता है।

सूत्र १५ : 'अपि च सप्त।'

भावार्थ : इसके सिवा पाप कर्म का फल भोगने के लिए प्रधानतः सात नरकों का वर्णन आया है।

व्याख्या—पापियों के स्वर्गगमन की कहीं भी संभावना नहीं बताई गई है। पुराणों में प्रधानता से रौरव आदि सात

नरकों का वर्णन मिलता है जिनमें अपने कर्मों के अनुसार पापकर्मी जाते हैं।

सूत्र १६ : 'तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः।'

भावार्थ : तथा उन यातना के स्थानों में भी उस यमराज के ही आज्ञानुसार कार्य होने से किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

व्याख्या—नरकों में यातना भोगने के लिए वहाँ जो चित्रगुप्त आदि दूसरे अधिकारी हैं वे भी यमराज की आज्ञानुसार कार्य करते हैं इसलिए उनका किया हुआ कार्य भी यमराज का ही कार्य समझना चाहिए। इसलिए यमराज के अधिकार में पापियों के दण्ड भोगने की जो बात कही गई है उसमें कोई विरोध नहीं है।

सूत्र १७ : 'विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्।'

भावार्थ : ज्ञान और शुभ कर्म इन दोनों का ही प्रकरण होने के कारण ऐसा कथन उचित ही है।

व्याख्या—सूत्र १२ में चन्द्रलोक में जाने की जो बात कही गई है वहाँ छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/१) में विद्या और शुभ कर्मों का फल बताने का प्रसंग आरम्भ करके देवयान और पितृयान मार्ग की बात कही गई है। उसी प्रकार कौषीतकि उपनिषद् में भी ज्ञान और शुभ कर्मों का फल बताने के प्रकरण में ही उक्त कथन है। इससे यह सिद्ध होता है कि शुभ कर्म करने वाले अधिकारी ही चन्द्रलोक को जाते हैं, अनिष्ट कर्म करने वाले नहीं। क्योंकि उनका प्रकरण नहीं है।

सूत्र १८ : 'न तृतीये तथोपलब्धेः।'

भावार्थ : वहाँ कही हुई तीसरी गति में यमलोक गमन रूप गति का अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि उस वर्णन में ऐसी ही बात मिलती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/८) में कहा गया है कि, 'जो लोग देवयान और पितृयान मार्ग से ऊपर के लोकों में नहीं जाते वे क्षुद्र तथा बार-बार जन्म लेने वाले प्राणी होते हैं। यह मृत्यु लोक ही उनका तीसरा स्थान है।' इससे यह ज्ञात होता है कि पापी लोग मृत्युलोक में ही जन्मते और मरते हैं। यमलोक रूप नरक की गति इसमें नहीं कही गई है। (इसका समाधान आगे किया गया है।)

सूत्र १६ : 'स्मर्यंतेऽपि च लोके।'

भावार्थ : स्मृतियों में इसका समर्थन किया गया है तथा लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है।

व्याख्या—गीता (१४/१८) में कहा गया है कि 'सत्वगुण में स्थित रहकर मरने वाले लोग ऊपर के लोकों में जाते हैं (देवयान या पितृयान मार्ग इसी के अन्तर्गत है) राजसी लोग बीच में अर्थात इस मृत्यु लोक में ही जन्मते मरते हैं (छान्दोग्य में इसे तीसरी गति बतलाया है), निन्दनीय तमोगुण की वृत्ति में स्थित तामसी जीव नीचे के लोकों में जाते हैं (यही यम यातना रूप गति है)। इसका वर्णन स्मृतियों में पाया जाता है तथा लोक में भी यही प्रसिद्ध है। नरक में जाना ही निम्न गति है। इसी को अधोगति कहते हैं।

सूत्र २० : 'दर्शनाच्च।'

भावार्थ : श्रुति में भी ऐसा वर्णन देखा जाता है। इसलिए भी यह मानना ठीक है कि इस प्रकरण में बताई

हुई तीसरी गति में यम यातना का अन्तर्भाव नहीं है।

व्याख्या—ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि, 'जो असुरों के प्रसिद्ध लोक हैं, वे सब के सब अज्ञान तथा दुःख-क्लेश रूप महान् अन्धकार से आच्छादित हैं, जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले मनुष्य हैं वे मरने के बाद उन्हीं भयंकर लोकों को बार-बार प्राप्त होते हैं, (ईशा० ३७) इस प्रकार उपनिषदों में भी नरकादि लोकों की प्राप्ति रूप गति का वर्णन देखा जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि इस प्रसंग में कही हुई तीसरी गति में यम यातना वाली गति का अन्तर्भाव नहीं है।

सूत्र २१ : 'तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य।'

भावार्थ : पसीने से उत्पन्न होने वाले जीवसमुदाय का तीसरे नाम वाली उद्भिज्ज जाति में संग्रह समझना चाहिए।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् में जीवों की तीन ही श्रेणियाँ बताई गई हैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज। (छा०उ० ६/३/१)। इसमें स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले जीवों) को क्यों छोड़ा गया है? इसका समाधान यहाँ किया गया है कि इसे तीसरी श्रेणी के उद्भिज जाति के अन्तर्गत ही समझना चाहिए क्योंकि दोनों ही पृथ्वी और जल के संयोग से उत्पन्न होते हैं।

सूत्र २२ : 'तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः।'

भावार्थ : उनके सदृश भाव की प्राप्ति होती है क्योंकि यही बात युक्ति से सिद्ध होती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/५-६) में कहा गया है कि स्वर्ग से लौटने वाले जीव पहले आकाश को प्राप्त होते हैं, आकाश से वायु, धूम, मेघ आदि के क्रम से उत्पन्न होते हैं। इसका भाव यह है कि वे इनके सदृश सूक्ष्म से स्थूल आकार धारण करते जाते हैं व अन्त में वर्षा, अन्न, वीर्य में परिवर्तित होकर मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं।

सूत्र २३ : 'नातिचिरेण विशेषात्।'

भावार्थ : ऊपर गमन की अपेक्षा नीचे उतरने की परिस्थिति में भेद होने के कारण जीव उन आकाश, वायु आदि के रूप में अधिक काल तक न रहकर क्रमशः नीचे उतर आते हैं।

व्याख्या—मृत्यु के बाद जीवात्मा को स्वर्ग जाते समय विभिन्न कर्मफल भोग के कारण मार्ग में रुकना भी पड़ता है किन्तु स्वर्ग में कर्मफल भोग की समाप्ति हो जाने से वह पुनः शीघ्र ही मनुष्य योनि में लौट आता है। उसमें अधिक विलम्ब नहीं होता।

सूत्र २४ : 'अन्याधिष्ठितेणु पूर्ववदभिलापात्।'

भावार्थ : पहले की भाँति ही यह कथन है, इसलिए दूसरे जीवात्मा अपने कर्मफल भोग के लिए जिनमें स्थित हो रहे हैं, ऐसे धान, जौ आदि में केवल सन्निधिमात्र से इसका निवास है।

व्याख्या—सूत्र २२ में बताया गया है कि वह जीवात्मा स्वर्ग से लौटते समय आकाश, वायु आदि नहीं बनता बल्कि उनके सदृश होकर लौटता है। इसी प्रकार वह धान आदि के

रूप में अपने कर्मफल का भोग करने हेतु नहीं बनते बल्कि उनसे संयुक्त होकर पुरुष के उदर में चला जाता है। वह स्थावर योनियों को प्राप्त नहीं होता।

सूत्र २५ : 'अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्।'

भावार्थ : यदि कहा जाय कि यह तो अशुद्ध (पाप) कर्म होगा, तो ऐसी बात नहीं है श्रुति के वचन से इसकी निर्दोषता सिद्ध होती है।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि अनाज के प्रत्येक दाने में जीव रहता है इसलिए इसे खाने में जीव हिंसा का पाप कर्म होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति में पुरुष को 'अग्नि' बताकर उसमें अन्न को हवन करना बताया गया है। फिर उन जीवों की उस काल में सुषुप्ति अवस्था रहती है। जब वे पृथ्वी और जल के सम्पर्क में आते हैं तब चेतना आती है, और सुख दुःख का ज्ञान होता है। अतः अन्न भक्षण में हिंसा नहीं है।

सूत्र २६ : 'रेतः सिग्योगोऽथ।'

भावार्थ : उसके बाद वीर्य का सेचन करने वाले पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध होता है।

व्याख्या—इसके बाद वह जीवात्मा अन्न के साथ पुरुष के पेट में जाकर उसके वीर्य में प्रविष्ठ हो उस पुरुष से संयुक्त होता है।

सूत्र २७ : 'योनेः शरीरम् ।'

भावार्थ : स्त्री की योनि में प्रविष्ठ होने के अनन्तर वह जीवात्मा कर्मफल भोग के अनुरूप शरीर को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—पुरुष वीर्य में प्रविष्ठ होने के बाद गर्भाधान के समय उस जीवात्मा का स्त्री की योनि में वीर्य के साथ प्रवेश होता है । वहाँ वह गर्भाशय से सम्बद्ध होकर वह अपने कर्मफलों के अनुरूप शरीर को प्राप्त होता है । यहीं से उसका कर्म फल भोग आरम्भ होता है ।

।। पहला पाद सम्पूर्ण ।।

तीसरा अध्याय

दूसरा पाद

सूत्र १ : 'संध्ये सृष्टिराह ही ।'

भावार्थ : स्वप्न में भी जाग्रत की भाँति सांसारिक पदार्थों की रचना होती है क्योंकि श्रुति ऐसा वर्णन करती है ।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन आया है कि, स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा इस लोक और परलोक दोनों को देखता है, वहाँ दुःख और आनन्द दोनों का उपभोग करता है, इस स्थूल शरीर को स्वयं अचेत करके वासनामय नये शरीर की रचना करके जगत् को देखता है ।' (वृह० उप० ४/३/९) इसी प्रकार दूसरी श्रुतियों में भी स्वप्न में सृष्टि का होना कहा है । इससे सिद्ध होता है कि स्वप्न में भी साँसारिक पदार्थों की रचना होती है और वह अत्यन्त विचित्र तथा जीवकृत है ।

सूत्र २ : 'निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।'

भावार्थ : तथा एक शाखा वाले पुरुष को कामनाओं का निर्माता भी मानते हैं, और उनके मत में पुत्र आदि ही कामना के विषय हैं ।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/२/८ तथा १/१/२३-२४) में

वर्णन आया है कि 'यह नाना प्रकार के भोगों की रचना करने वाला पुरुष अन्य सब के सो जाने पर स्वयं जागता रहता है।' इसमें पुरुष को कामनाओं का निर्माता कहा है तथा पुत्र-पौत्र आदि ही कामना के विषय हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि स्वप्न में सृष्टि है।

सूत्र ३ : 'मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ।'

भावार्थ : किन्तु पूर्ण रूप से उसके रूप की अभिव्यक्ति न होने के कारण वह माया मात्र है।

व्याख्या—पूर्व के दो सूत्रों में स्वप्न की सृष्टि को सत्य सिद्ध करने की चेष्टा की गई किन्तु ग्रन्थकार का कहना है कि श्रुति में यह स्पष्ट कर दिया है कि जीवात्मा स्वप्न में जिन-जिन वस्तुओं की रचना करता है, वे वास्तव में नहीं हैं, तथा यह भी देखा जाता है कि स्वप्न में सब वस्तुएँ पूर्ण रूप से देखने में नहीं आतीं। जो कुछ देखा जाता है वह अनियमित और अधूरा ही देखा जाता है। इसलिए स्वप्न की सृष्टि वास्तविक नहीं है यह माया मात्र है, जाग्रत की भाँति सच्ची नहीं है। इसी कारण उसके शुभाशुभ कर्मों का फल जीवात्मा को नहीं भोगना पड़ता।

सूत्र ४ : 'सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।'

भावार्थ : स्वप्न भविष्य में होने वाले शुभाशुभ परिणाम का सूचक भी होता है क्योंकि श्रुति से यह सिद्ध होता है और स्वप्न विषयक शास्त्र को जानने वाले भी ऐसी बात कहते हैं।

व्याख्या - श्रुति में दिये गये प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ये स्वप्न सर्वथा व्यर्थ नहीं होते बल्कि ये भविष्य में होने

वाली शुभाशुभ घटनाओं के सूचक भी होते हैं। स्वप्न विज्ञान को जानने वाले विद्वान भी ऐसा ही कहते हैं।

सूत्र ५ : 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।'

भावार्थ : जीवात्मा में भी ईश्वर के समान गुण हैं किन्तु छिपे हुए हैं। अतः परब्रह्म परमात्मा का निरंतर ध्यान करने से वे प्रकट हो जाते हैं क्योंकि उस परमात्मा के सकाश से ही इसके बन्धन और उसके विपरीत अर्थात मोक्ष है।

व्याख्या—जीवात्मा में ईश्वर के समान गुण होते हुए भी वे तिरोहित हैं। वे उसके चिन्तन से ही प्रकट होते हैं। उनका प्रकट न होना ही बन्धन का कारण है एवं प्रकट हो जाना मुक्ति है। इसलिए जीवात्मा स्वयं स्वप्न की सृष्टि नहीं कर सकता।

सूत्र ६ : 'देहयोगाद्वा सोऽपि।'

भावार्थ : वह तिरोभाव भी शरीर के सम्बन्ध से ही है।

व्याख्या—जीवात्मा के ईश्वर के समस्त गुण होते हुए भी वे प्रकट नहीं हो रहे हैं जिससे जीवात्मा अनादि काल से कर्म बन्धनों में जकड़ा हुआ है तथा इसी कारण उसे नाना योनियों में जन्म लेना और मरना पड़ता है। ईश्वर के गुणों का प्रकट न होने का मुख्य कारण उसका शरीर के साथ एकता मान लेना है।

सूत्र ७ : 'तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च।'

भावार्थ : सुषुप्ति काल में उस स्वप्न दृश्य का अभाव हो जाता है, उस समय जीवात्मा नाड़ियों में स्थित

हो जाता है क्योंकि वैसा ही श्रुति का कथन है। तथा आत्मा में भी उसकी स्थिति बताई गई है।

व्याख्या—स्वप्नावस्था में सुख दुःखों का अनुभव करता हुआ जब जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में चला जाता है तो स्वप्नों का अभाव हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि स्वप्न माया मात्र है। सुषुप्ति में जीवात्मा को इस प्रपंच के उपभोग से विश्राम मिलता है तथा शरीर और इन्द्रियों की थकावट दूर होती है। इस स्थिति में जीवात्मा विभिन्न नाड़ियों में फैल कर शरीर में व्याप्त हुआ शयन करता है। उस समय इसे कोई भी पाप स्पर्श नहीं करते ऐसा वृह० उप० २/१/१९ तथा छा० उ० ८/६/३ में कहा गया है। छा० उ० ६/८/१ में यह भी कहा गया है कि 'सुषुप्ति के समय वह पुरुष सत् से सम्पन्न होता है।' किन्तु यह अवस्था मुक्ति में सहायक नहीं है।

सूत्र ८ : 'अतः प्रबोधोऽस्मात् ।'

भावार्थ : इसलिए यहाँ से जीवात्मा का जगना श्रुति में कहा गया है।

व्याख्या—परमात्मा का निवासस्थान हृदय में बताया गया है तथा सुषुप्ति के समय जीवात्मा हृदय में ही निवास करता है तथा वहीं से जगता भी है। इससे सिद्ध होता है कि उसके लय होने का स्थान भी वही है तभी वहाँ से जागता है। सुषुप्ति से जागना भी परमात्मा की व्यवस्थानुसार ही होता है। सुषुप्ति के उपभोग का समय परमेश्वर की व्यवस्था के अनुसार ही होता है।

सूत्र ९ : 'स एव तु कर्मानुस्मृति शब्दविधिभ्यः ।'

भावार्थ : निस्संदेह वही जागता है क्योंकि कर्म, अनुस्मृति, वेद प्रमाण और कर्म करने की आज्ञा इन सबकी सिद्धि तभी होगी, इसलिए यही मानना ठीक है।

व्याख्या—जो जीवात्मा सोता है वही जागता है। सोता दूसरा है और जागता दूसरा है यह मानने में बहुत दोष आते हैं। फिर सोते समय जो काम उसने अधूरा छोड़ा था उसकी स्मृति रहने से वह जागने पर उसे पूरा करता है तथा जागने पर उसको स्मृति रहती है कि मैं ही सोया था। यदि जागने वाला जीवात्मा दूसरा हो तो यह स्मृति नहीं रह सकती। श्रुति में भी जगह-जगह यही कहा गया है कि जो जीवात्मा सोता है वही जागता है, अन्य नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जो जीवात्मा सुषुप्ति काल में विलीन होता है वही जगता है।

सूत्र १० : 'मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्।

भावार्थ : मूर्छा काल में अधूरी सुषुप्ति अवस्था माननी चाहिए, क्योंकि यही अवस्था शेष रहती है। अन्य कोई अवस्था शेष नहीं है।

व्याख्या—किसी औषध, विष आदि के सेवन तथा अन्य कारणों से जीव की जब मूर्छित अवस्था हो जाती है वह सुषुप्ति के समान ही होती है किन्तु इसे अधूरी सुषुप्ति मानना उचित है क्योंकि इसमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान तो नहीं रहता किन्तु सुषुप्ति का सुख लाभ भी नहीं मिलता। इसलिए इसे पूर्ण सुषुप्ति नहीं कहा जा सकता। इसमें वह स्वप्न भी नहीं देखता।

सूत्र ११ : 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि।'

भावार्थ : स्थान के सम्बन्ध से भी परब्रह्म परमात्मा का

किसी प्रकार के दोष से संसर्ग नहीं होता, क्योंकि [सभी वेद वाक्यों में उस ब्रह्म को दोनों प्रकार के लक्षणों से युक्त अर्थात सब प्रकार के दोषों से रहित निर्विशेष तथा समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न बताया गया है।

व्याख्या—कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में उस परब्रह्म को दोनों प्रकार के लक्षणों से युक्त बताया गया है—यथा 'वह छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है, वह जीवात्मा के हृदयरूप गुहा में रहने वाला है, वह बैठा हुआ भी दूर चला जाता है, सोता हुआ भी सब ओर चला जाता है, वह भूत और भविष्य का शासक है, वह सब धर्मों से रहित है, उसमें नाना भेद नहीं है, उसके भय से अग्नि आदि देवता अपने-२ कार्यों में संलग्न रहते हैं, वह नाना प्रकार के गुणों से युक्त भी है आदि। इस प्रकार वह जीव और प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार वह दोनों प्रकार के लक्षणों से युक्त, निर्विशेष तथा समस्त दिव्य गुणों से सम्पन्न है। वह सर्वत्र व्याप्त तथा समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है। वह सर्व शक्तिमान होने से उसमें परस्पर विरोधी लक्षण एक साथ रह सकते हैं क्योंकि वह सबसे विलक्षण है। उसके स्वरूप को मन तथा वाणी से नहीं समझाया जा सकता।

सूत्र १२ : 'न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्।'

भावार्थ : यदि कहो कि सगुण (अपर ब्रह्म या कार्य ब्रह्म) और निर्गुण (परब्रह्म) ये ब्रह्म के पृथक्-पृथक् दो स्वरूप माने गये हैं, इसलिए वह एक ही परमात्मा दोनों लक्षणों वाला नहीं हो सकता,

तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि प्रत्येक श्रुति में इसके विपरीत एक परब्रह्म परमेश्वर को ही दोनों प्रकार के लक्षणों वाला बताया गया है।

व्याख्या—यहाँ एक शंका उपस्थित की गई है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्म में भिन्न-भिन्न विशेषतायें होने के कारण ये दोनों भिन्न स्वरूप वाले होने के कारण ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि एक ही परब्रह्म दो भिन्न लक्षणों वाला नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है किन्तु श्रुति में उस एक ही परब्रह्म को दोनों भिन्न लक्षणों वाला होना बताया गया है, इसलिए पर और अपर ब्रह्म भिन्न-भिन्न नहीं है बल्कि निराकार और साकार सब वही है। इन दोनों लक्षणों से युक्त होना उसका स्वभाव है।

सूत्र १३ : 'अपि चैवमेके।'

भावार्थ : इसके सिवा किसी एक शाखा वाले विशेष रूप से इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१, २/७ तथा २/८) में कहा गया है कि, 'वह सत्य, ज्ञान और अनन्त है, उसी से समस्त जगत की उत्पत्ति होती है।' 'उसने स्वयं ही अपने आप को इस रूप में बनाया है।' उसे रसयुक्त तथा आनन्द युक्त करने वाला कहा है। 'इसी के भय से वायु चलता है, इसी के भय से सूर्य उदय होता है, इसी के भय से अग्नि और इन्द्र तथा पाँचवाँ मृत्यु अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं।' इस प्रकार उस एक ही परमात्मा को दोनों प्रकार के लक्षणों वाला (निर्गुण और सगुण) होना बताया गया है।

सूत्र १४ : 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्।'

भावार्थ : क्योंकि रूप रहित निर्विशेष लक्षणों की भांति ही उन सगुण स्वरूप के लक्षणों की भी प्रधानता है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म दोनों लक्षणों वाला है।

व्याख्या—वेद वाक्यों में जिस प्रकार उस परब्रह्म को निर्गुण निराकार बताया गया है उसी प्रकार उसे सगुण साकार, सर्व-दिव्य गुण सम्पन्न भी बताया गया है। इनमें किसी एक को मुख्य और दूसरे को गौण नहीं कहा गया है (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/११) इससे सिद्ध होता है वह एक ही परब्रह्म दोनों लक्षणों वाला है, दो रूप वाला नहीं है।

सूत्र १५ : 'प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्।

भावार्थ : तथा प्रकाश की भांति दोनों में कोई भी लक्षण या उसके प्रतिपादक वेदवाक्य व्यर्थ नहीं है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि परमात्मा दोनों लक्षणों वाला है।

व्याख्या—जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदि ज्योतियों के दो रूप नहीं होते। विद्युत अप्रकट रूप है तथा अग्नि उसका प्रकट रूप है। अप्रकट ही प्रकट होता है तथा प्रकट का आधार अप्रकट ही है। इसलिए इन दोनों में कोई भी व्यर्थ नहीं है, दोनों ही सार्थक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के भी दोनों रूप सार्थक हैं। इनमें से किसी एक को प्रधान और दूसरे को गौण नहीं मानना चाहिए। साकार के बिना उपासना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। श्रुति में उसके दोनों लक्षणों का वर्णन है तथा श्रुति स्वतः प्रमाण है। श्रुति के वचन व्यर्थ नहीं हो सकते। अतः परब्रह्म को दोनों लक्षणों वाला मानना ही उचित है।

सूत्र १६ : 'आह च तन्मात्रम् ।'

भावार्थ : श्रुति उस परमात्मा को केवल सत्य, ज्ञान और अनन्त मात्र ही बताती है, वहाँ सगुण वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं है ।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१) में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप वाला कहा गया है। इसलिए उसे दोनों लक्षणों वाला नहीं माना जा सकता। इस शंका का समाधान अगले सूत्र में किया गया है ।

सूत्र १७ : 'दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।'

भावार्थ : उक्त कथन के अनन्तर श्रुति उसी को अनेक रूप वाला भी दिखाती है । इसके सिवा स्मृति में भी उसके सगुण स्वरूप का वर्णन आया है ।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१) में जहाँ परब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त बताया है वहीं उसे हृदय में स्थित भी बताया है और उसी से समस्त जगत् की उत्पत्ति भी बताई है। इसी उपनिषद् (२/७ व २/८) में बताया गया है कि वह रस स्वरूप एवं आनन्द देने वाला है और सबका संचालक है। इसी प्रकार स्मृति (गीता १०/३, ५/२९, ११/५४) में उसके दोनों स्वरूपों का वर्णन है। इस प्रकार अनेक स्मृति ग्रन्थों में भी भगवान के सगुण रूप का वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि परब्रह्म दोनों लक्षणों वाला है ।

सूत्र १८ : 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ।'

भावार्थ : और इसलिए अर्थात उस परमेश्वर का उभय रूप स्वाभाविक है, यह सिद्ध करने के लिए ही

सूर्य आदि के प्रतिबिम्ब की भांति उपमा दी गई है।

व्याख्या - ब्रह्म बिन्दु उपनिषद् (१२) में कहा गया है कि 'सब भूतों का आत्मा परब्रह्म परमेश्वर है, तथापि वह भिन्न-भिन्न प्राणियों में स्थित है, अत: जल में पड़े चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की भाँति वह एक ही अनेक रूप में दीखता है।' इसमें यह दिखाया गया है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्म भिन्न-भिन्न नहीं एक ही है तथापि प्रत्येक जीवात्मा में अलग-अलग दिखाई दे रहा है। गीता (१३/१६) में भी कहा है, 'वह परमात्मा विभाग रहित है तो भी विभक्त की भाँति सब प्राणियों में स्थित है।' यही उसकी विचित्र महिमा है।

सूत्र १९ : 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्।'

भावार्थ : किन्तु जल में स्थित चन्द्रमा की भांति परमात्मा का ग्रहण न होने के कारण उस परमेश्वर को सर्वथा वैसा नहीं समझना चाहिए।

व्याख्या—पूर्व सूत्र में चन्द्रमा के बिम्ब का उदाहरण दिये जाने से यह भ्रम हो सकता है कि वह जल में पड़े बिब की भाँति मिथ्या है किन्तु परमात्मा तो सचमुच हृदय में स्थित है। इसलिए चन्द्रमा के बिम्ब की भाँति परमेश्वर की स्थिति नहीं है। चन्द्रमा के बिम्ब का उदाहरण एक ही नाना रूपों में दिखाई देता है इसके लिए दिया गया है कि वह एक होते हुए भी अलग-अलग प्राणियों में स्थित है।

सूत्र २० : 'वृद्धिसभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामंजस्या देवम्।'

भावार्थ : शरीर के भीतर स्थित होने के कारण शरीर की भांति परमात्मा के बढ़ने-घटने वाला होने की

सम्भावना होती है अतः उसे निषेध में परमात्मा और चन्द्र प्रतिबिंब इन दोनों की समानता है। इसलिए इस प्रकार का दृष्टान्त दिया गया है।

व्याख्या—शरीर के भीतर स्थित मानने से यह शंका हो सकती है कि वह भी शरीर के साथ घटता बढ़ता होगा। इस शंका के निवारण हेतु ऊपर जल में चन्द्रमा के बिंब का उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार जल के घटने बढ़ने से चन्द्रमा का बिंब अस्पर्श्य रहता है, उसी प्रकार शरीर में रहता हुआ भी वह उससे निर्लिप्त रहता है।

सूत्र २१ : 'दर्शनाच्च।'

भावार्थ : श्रुति में दूसरे दृष्टान्त देखे जाते हैं, इसलिए भी यही सिद्ध होता है कि परमात्मा की स्थिति प्रतिबिंब की भाँति अवास्तविक नहीं है।

व्याख्या—वेदों में अन्य भी दृष्टान्त देखे जाते हैं जिनमें प्राणियों और प्रत्येक वस्तु में उस परब्रह्म की स्थिति प्रतिबिंब की भाँति आभास मात्र नहीं बल्कि सत्य मानी गई है। इस लिए वह सगुण और निर्गुण दोनों लक्षणों वाला है। इसलिए यही मानना युक्ति संगत है।

सूत्र २२ : 'प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः।'

भावार्थ : प्रकरण में जो ब्रह्म के लक्षण बताये गये हैं उनकी इयत्ता का श्रुति निषेध करती है क्योंकि उसके बाद दुबारा कहती भी है।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों रूप बताये हैं। इस प्रकार सगुण परमेश्वर के

साकार एवं निराकार रूप बता कर फिर 'नेति नेति' (इतना ही नही, इतना ही नहीं) कहा गया है। फिर यह बताया गया है कि उस परम तत्व का नाम सत्य का सत्य है। यह प्राण तथा जीवात्मा सत्य है और उसका भी सत्य परब्रह्म है (वृह० उप० २/३/१-६)। इसमें बताया गया है कि उस परब्रह्म का जो जड़ अंश है वह तो उसकी 'अपरा प्रकृति' का विस्तार है और जो चेतन है, वह जीवात्मा रूप उसकी 'परा प्रकृति' है तथा इन दोनों का आश्रय भूत परब्रह्म इनसे भी श्रेष्ठ है। यहाँ 'नेति-नेति' का अर्थ उसकी असीमता बताने के लिए है। इस प्रकार वह सगुण और निर्गुण दोनों लक्षणों वाला है।

सूत्र २३ : 'तदव्यक्तमाह हि।'

भावार्थ : क्योंकि श्रुति उस सगुण रूप को इन्द्रियों द्वारा जानने में न आने वाला कहती है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/१/८) में कहा गया है, 'वह परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से, न दूसरी इन्द्रिय या मन से, न तप से और न कर्मों से ही देखा जा सकता है।' इस प्रकार वह निर्गुण-निराकार रूप परब्रह्म अव्यक्त होने से इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता किन्तु उसका सगुण रूप भी मन और इन्द्रियों आदि का विषय नहीं है। उसे भी श्रुति में अव्यक्त कहा गया है।

सूत्र २४ : 'अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।'

भावार्थ : इस प्रकार अव्यक्त होने पर भी आराधना करने पर उपासक परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन पाते हैं। यह बात वेद और स्मृति दोनों के ही कथन से सिद्ध होती है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/१/८), श्वेता० उप० (१/३/१०, २/१५) तथा गीता (११/५४) में यह बताया गया है कि वह परमात्मा नाम, जप, स्मरण, ध्यान आदि आराधनाओं द्वारा प्रत्यक्ष होने वाला भी है। इससे सिद्ध होता है कि उसका प्रत्यक्ष दर्शन संभव है। इसलिए वह परब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों लक्षणों वाला है यही मानना उचित है।

सूत्र २५ : 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्।'

भावार्थ : अग्नि आदि के प्रकाशादि गुणों की भाँति ही परमात्मा में भी भेद नहीं है। प्रकाश भी कर्म से, अभ्यास करने से ही प्रकट होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार विद्युत एवं अग्नि आदि से अभ्यास करने से ही प्रकाश प्राप्त होता है जो उसके गुण हैं इसी प्रकार परमात्मा भी व्यक्त और अव्यक्त गुणों से सम्पन्न हैं जो आराधना द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं। परमात्मा के जिन गुणों का प्रकटीकरण होता है वे उनमें अव्यक्त रूप से विद्यमान हैं। बिना अभ्यास के वे प्रकट नहीं होते।

सूत्र २६ : 'अतोऽनन्तेन तथाहि लिंगम्।'

भावार्थ : इन ऊपर बताये हुए कारणों से यह सिद्ध हुआ कि वह ब्रह्म अनन्त दिव्य कल्याणमय गुण-समुदाय से सम्पन्न है क्योंकि वैसे ही लक्षण उपलब्ध होते हैं।

व्याख्या—उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह परब्रह्म सभी गुण-समुदाय से सम्पन्न है तथा निर्विशेष भी है।

सूत्र २७ : 'उभयव्यपदेशात्वहि कुण्डलवत् ।'

भावार्थ : दोनों प्रकार का कथन होने से सर्प के कुण्डलाकार की भाँति ही उसका भाव समझना चाहिए ।

व्याख्या—जिस प्रकार सर्प अपनी साधारण स्थिति में रहता है तथा कभी कुण्डली भी मार लेता है तो दोनों ही स्थितियों में वह सर्प ही है। इसी प्रकार वह परब्रह्म भी जब अपनी कारण अवस्था में रहता है तो उस समय उसकी अपरा तथा परा प्रकृति रूप दोनों ही शक्तियाँ सृष्टि से पूर्व उसमें अभिन्न रूप से विद्यमान रहती हुई अप्रकट रहती है और जब वह कार्य रूप में स्थित होता है तब उसकी विभिन्न शक्तियाँ भिन्न-भिन्न नाम रूपों में प्रकट हो जाती हैं। इसलिए उसका जो निराकार स्वरूप है वह उसकी कारण अवस्था है तथा उसका साकार रूप उसकी कार्य अवस्था है। श्रुति में इन दोनों अवस्थाओं का वर्णन हुआ है। इसलिए सिद्ध होता है कि परमात्मा में उसकी शक्ति अभिन्न रूप से विद्यमान है।

सूत्र २८ : 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।'

भावार्थ : अथवा प्रकाश और उसके आश्रय की भांति उनका अभेद है क्योंकि तेज की दृष्टि से दोनों एक ही हैं ।

व्याख्या—जिस प्रकार प्रकाश और उसका आश्रय सूर्य तेज तत्व के नाते अभिन्न है उसी प्रकार परब्रह्म और उसकी शक्ति वास्तव में अभिन्न होते हुए भी उनका अलग-अलग वर्णन किया जाता है। वास्तव में दोनों एक ही हैं।

सूत्र २९ : 'पूर्ववद्वा ।'

भावार्थ : अथवा जिस प्रकार पहले सिद्ध किया जा चुका है वैसे ही दोनों का अभेद समझ लेना चाहिए।

व्याख्या—जिस प्रकार पहले सिद्ध किया जा चुका है कि परमात्मा एवं जीव समुदाय का अभेद सम्बन्ध है उसी प्रकार यहाँ शक्ति और शक्तिमान् का अभेद समझ लेना चाहिए।

सूत्र ३० : 'प्रतिषेधाच्च।'

भावार्थ : दूसरे का प्रतिषेध होने से भी अभेद ही सिद्ध होता है।

व्याख्या—ऐतरेय उपनिषद् (१/१/१) में कहा गया है कि 'यह जगत् प्रकट होने से पहले एक मात्र परमात्मा ही था, दूसरा कोई भी चेष्टा करने वाला नहीं था।' इस कथन से भी यही सिद्ध होता है जगत् की उत्पत्ति से पूर्व प्रलयकाल में परमेश्वर की दोनों प्रकृतियाँ (अपरा और परा) उसमें विलीन रहती हैं अतः उनमें किसी प्रकार के भेद की प्रतीति नहीं होती है। इसलिए इनका अभेद बतलाया है।

सूत्र ३१ : 'परमतः सेतून्मान सम्बन्ध भेदव्यपदेशेभ्यः।'

भावार्थ : इस जड़-चेतन रूप दोनों प्रकृतियों के समुदाय से वह ब्रह्म अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि श्रुति में सेतु, उन्मान, सम्बन्ध तथा भेद का वर्णन करके यही सिद्ध किया गया है।

व्याख्या—इस समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् की कारणभूता जो दो प्रकृतियाँ हैं—अपरा तथा परा जिनको क्षर और अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ प्रकृति और पुरुष कहा गया है। जिनका विस्तार ही यह दृश्य जगत् है, इनसे वह परब्रह्म सर्वथा

विलक्षण एवं श्रेष्ठ है। उसकी यह श्रेष्ठता चार बातों से सिद्ध होती है। (१) सेतु (२) उन्मान (३) सम्बन्ध और (४) भेद। श्रुति में इनका वर्णन इस प्रकार आया है। यह जो परमात्मा है, यही सबको धारण करने वाला 'सेतु' है। 'उन्मान' का अर्थ है सबसे बड़ा। श्रुति में उसे सबसे बड़ा बताया गया है। तीसरा उसे समस्त प्रकृतियों का स्वामी, शासक एवं संचालक कहा गया है तथा ये प्रकृतियाँ उनसे संचालित हैं यह 'सम्बन्ध' भाव है। तथा चौथे हेतु में 'भेद' का प्रतिपादन किया गया है अर्थात वह इन प्रकृतियों से भिन्न भी है। इस प्रकार परब्रह्म को सबसे श्रेष्ठ एवं विलक्षण बताया गया है।

सूत्र ३२ : 'सामान्यात्तु।'

भावार्थ : श्रुति में भेद वर्णन और अभेद दोनों समान भाव से हैं। इससे तो यही निश्चय होता है कि भेद और अभेद दोनों ही पक्ष मान्य हैं।

व्याख्या—श्रुति में जहाँ परमात्मा को सबका ईश्वर, अधिपति, प्रेरक, शासक और अन्तर्यामी बताकर जहाँ भेद का प्रतिपादन किया गया है वहाँ 'तत्वमसि' (वह ब्रह्म तू है), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि अभेद प्रतिपादक श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं। इसलिए भेद और अभेद दोनों ही पक्ष मान्य हैं। इनमें एक को श्रेष्ठ एवं दूसरे को गौण कहना उचित नहीं है।

सूत्र ३३ : 'बुद्ध्यर्थः पादवत्।'

भावार्थ : अवयव रहित परमात्मा के चार पाद बताये जाने की भाँति मनन, निदिध्यासन आदि उपासना के लिए वैसा उपदेश है।

व्याख्या—माण्डूक्य उपनिषद् (२) में जिस प्रकार उस अवयवरहित परब्रह्म के चार पादों की कल्पना की गई है उसी प्रकार पूर्व सूत्रों में उसके भेद एवं अभेद भाव का वर्णन उपासना के लिए किया गया है। उपासकों की रुचि के अनुसार कोई अभेद उपासना को ग्रहण करते हैं जैसे ज्ञान मार्गी एवं कई भेदोपासना को ग्रहण करते हैं जैसे भक्त आदि। दोनों ही प्रकार के उपासक एक ही लक्ष्य तक पहुँचते हैं। कोई भी उपासना व्यक्ति की प्रकृति, योग्यता, रुचि और विश्वास के अनुसार ही की जाती है किन्तु इनका फल एक ही होता है।

सूत्र ३४ : 'स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ।'

भावार्थ : प्रकाश आदि की भांति शरीर रूप स्थान की विशेषता के कारण उनमें नानात्व आदि भेद का होना विरुद्ध नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार दीपक, नक्षत्र, सितारे, अग्नि, सूर्य आदि में स्थान की दृष्टि से भेद होते हुए भी प्रकाश जाति की दृष्टि से एक है उसी प्रकार भगवान की परा प्रकृति की दृष्टि से सभी जीव समुदाय एक हैं तथापि जीवादि के कर्म-संस्कारों के समूह के फलस्वरूप प्राप्त हुए शरीर, बुद्धि एवं शक्ति की दृष्टि से उनमें परस्पर भेद होना असंगत नहीं है।

सूत्र ३५ : 'उपपत्तेश्च ।'

भावार्थ : श्रुति की संगति से भी यह बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुति में जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता बतलाई गई है जो एक मात्र अद्वितीय है। फिर उसे सृष्टि की उत्पत्ति का अभिन्न निमित्त एवं उपादान कारण

भी बताया गया है। इसी के साथ 'तत्वमसि' (वह ब्रह्म तू है) भी कहा गया है। फिर उसे इस जड़-चेतनात्मक जगत् का सृष्टा, संचालक, जीवों के कर्म फल भोग एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था करने वाला कहा गया है। इन सब पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि जीव-समुदाय चैतन्य जाति के कारण तो एक दूसरे से अभिन्न हैं किन्तु कर्म-संस्कार जनित सीमित व्यक्तित्व के कारण भिन्न-भिन्न हैं। यही मानना उचित है।

सूत्र ३६ : **'तथान्यप्रतिषेधात् ।'**

भावार्थ : उसी प्रकार दूसरे का निषेध किया गया है इसलिए भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/१/११) में कहा गया है, 'इस जगत् में एक परमात्मा के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं हैं।' इसमें परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी सत्ता का निषेध किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि अपनी अपरा तथा परा प्रकृति से सम्पन्न वह परब्रह्म ही नाना रूपों में प्रकट हो रहा है किन्तु वह सर्वथा निर्विकार, असंग, भेद रहित और अखण्ड है।

सूत्र ३७ : **'अनेन सर्वगतत्वमायाम शब्दादिभ्यः ।'**

भावार्थ : इस प्रकार भेद और अभेद के विवेचन से तथा श्रुति में जो ब्रह्म की व्यापकता को सचित करने वाले शब्द आदि हेतु हैं, उनसे भी उस ब्रह्म का सर्वगत (सर्वत्र व्यापक) होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्वेताश्वतर उपनिषद् (३/९), ईशावास्य उपनिषद् (१) तथा गीता (८/२२) आदि श्रुति तथा स्मृति ग्रन्थों में परमात्मा की सर्व व्यापकता सिद्ध होती है इसलिए उसे

सर्वथा अभेद मान लेने से इस व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि नहीं होती। इसलिए यह निश्चय हुआ कि परब्रह्म अपनी दोनों प्रकृतियों से भिन्न भी है और अभिन्न भी, क्योंकि वे दोनों उसकी शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमान में भेद नहीं होता इसलिए वे अभिन्न हैं तथा नियन्ता होने से वे उनसे सर्वथा विलक्षण एवं उत्तम भी है।

सूत्र ३८ : 'फलमत उपपत्ते।'

भावार्थ : जीवों के कर्मों का फल इस परब्रह्म से ही होता है क्योंकि ऐसा मानना ही उचित है।

व्याख्या— प्रकृति जड़ है तथा जीवात्मा अल्पज्ञ और अल्प-शक्ति वाला है अतः वह सभी के लिए कर्म फल की व्यवस्था नहीं कर सकते। केवल परमात्मा ही सर्वशक्तिमान होने से सबके कर्मों को जानने वाला एवं कर्मों के अनुसार यथायोग्य फल देने वाला है। देवता आदि को कर्म फल देने वाला भी कहीं-कहीं कहा गया है वह भी भगवान के विधान को लेकर ही कहा गया है। इस प्रकार परमात्मा ही कर्मफल भोग की व्यवस्था करने वाला है, दूसरा कोई नहीं।

सूत्र ३९ : 'श्रुतत्वाच्च।'

भावार्थ : श्रुति में ऐसा ही कहा गया है इसलिए भी यही मानना ठीक है कि कर्म फल परमात्मा से ही प्राप्त होता है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/२/८) में कहा गया है, 'जो यह जीवों के कर्मानुसार नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला परम पुरुष परमेश्वर प्रलय काल में सब के सो जाने पर भी जागता रहता है।' श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/१३) में कहा गया है, 'जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुत से नित्य चेतन

आत्माओं के कर्म-फल भोगों का विधान करता है।' इन वेद वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि कर्म फल का विधान करने वाला वह परब्रह्म ही है।

सूत्र ४० : 'धर्मं जैमिनिरत एव।'

भावार्थ : पूर्वोक्त कारणों से ही जैमिनि धर्म (कर्म) को फलदाता कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि कहते हैं कि जिस प्रकार खेती आदि कर्म करने से उसके फल स्वरूप अन्न की उत्पत्ति अपने आप होती है उसी प्रकार युक्ति और वैदिक प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि धर्म अर्थात् कर्म स्वयं ही फल का दाता है। वेदों में भी कहा गया है कि 'अमुक फल की इच्छा हो तो अमुक कर्म करना चाहिए।' ऐसा विधि वाक्य होने से कर्म का फल अपने आप मिलता है। उससे भिन्न किसी कर्म फल दाता की कल्पना आवश्यक नहीं है।

सूत्र ४१ : 'पूर्वं तु बादरायणो हेतु व्यपदेशात्।

भावार्थ : परन्तु वेद व्यास पूर्वोक्त परमेश्वर को ही कर्म-फल दाता मानते हैं क्योंकि वेद में उसी को सबका कारण बताया गया है। इसलिए जैमिनि का कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या—सूत्रकार वेद व्यास जी कहते हैं कि कर्म तो निमित्त मात्र होता है। वह जड़, परिवर्तनशील और क्षणिक होने के कारण फल की व्यवस्था नहीं कर सकता। जैसा पहले कहा गया है वह परमेश्वर ही जीवों के कर्मानुसार फल देने वाला है क्योंकि ईश्वर को सबका हेतु बताया गया है।

॥ दूसरा पाद सम्पूर्ण ॥

तीसरा अध्याय

तीसरा पाद

सूत्र १ : 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।'

भावार्थ : समस्त उपनिषदों में जो अध्यात्म विद्या का वर्णन है वह अभिन्न है। क्योंकि आज्ञा आदि में भेद नहीं है।

व्याख्या—समस्त उपनिषदों का सार यही है कि उस परब्रह्म के स्वरूप, स्वभाव, कार्य आदि का वर्णन करना तथा उसे प्राप्त करने के साधन बताना। इनमें वर्णन शैली का भेद हो सकता है किन्तु जो आज्ञाएँ उसमें दी गई हैं उसमें कहीं भी भेद या विरोध नहीं है। सर्वत्र एक ही ब्रह्म की सत्ता बताई गई है।

सूत्र २ : 'भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ।'

भावार्थ : यदि ऐसा कहो कि उन स्थलों में वर्णन का भेद है, इसलिए एकता सिद्ध नहीं होती, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एक विद्या में भी इस प्रकार वर्णन का भेद होना अनुचित नहीं है।

व्याख्या—छान्दोग्य, वृहदारण्यक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, प्रश्न आदि उपनिषदों में जगत् की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण बताये गये हैं। कहीं इसकी उत्पत्ति 'सत्' से बताई गई है, कहीं

'आत्मा से, कहीं 'आनन्द से, कहीं रवि और प्राण से, तथा कहीं 'अव्यक्त' से बताई है। फिर उत्पत्ति का क्रम भी भिन्न-२ प्रकार से बताया गया है। इसलिए इन वेद वाक्यों में एकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन सब का उद्देश्य जगत् की उत्पत्ति का कारण एक मात्र परब्रह्म को बताना ही है।' उसी ब्रह्म को 'सत्', 'आत्मा', आनन्द', 'प्रजापति', 'अव्याकृत' आदि नाम से कहा गया है। अतः यह सब शब्द 'ब्रह्म' के ही वाचक हैं। वर्णन में भेद होने से तत्व में भेद नहीं आता। इनका उद्देश्य एवं फल एक ही होने से इन सब में भिन्नता नहीं है।

सूत्र ३। 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः।'

भावार्थ : यह शिरोव्रत का पालन अध्ययन का अंग है। क्योंकि आथर्वण शाखा वालों के परम्परागत शिष्टाचार में अध्ययन के अंगरूप से ही उसका विधान है तथा उस व्रत का पालन करने वाले का ही ब्रह्म विद्या अध्ययन में अधिकार होने के कारण भी 'सब' होम की भाँति वह शिरोव्रत वाला नियम आथर्वण शाखा वालों के लिए ही है।

व्याख्या—आथर्वण शाखा के उपनिषद् (मुण्डक उपनिषद् ३/२/१०) में कहा गया है, 'कि जिसने विधिपूर्वक शिरोव्रत का (ब्रह्मचर्य व्रत का) पालन किया हो उसी को ब्रह्म विद्या का उपदेश करना चाहिए।' किन्तु अन्य शाखा वालों ने ऐसा नहीं कहा। इससे ब्रह्म विद्या भिन्न-भिन्न नहीं हो जाती।

उक्त शाखा वालों में जैसे 'सव' होम का नियम है वैसे ही परम्परा से उनमें शिरोव्रत का नियम है। अन्य के लिए नहीं है।

सूत्र ४ : 'दर्शयति च।'

भावार्थ : श्रुति भी यही बात दिखाती है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (१/२/१५) में कहा गया है कि, 'समस्त वेद जिस परम प्राप्य परमेश्वर का प्रतिपादन करते हैं।' ऐसा ही वर्णन अन्य श्रुतियों में भी है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म विद्या एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है।

सूत्र ५ : 'उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च।'

भावार्थ : एक प्रकार की विद्या में ही प्रयोजन में भेद न होने के कारण एक जगह कहे हुए गुणों का दूसरी जगह उपसंहार कर लेना विधिशेष की भाँति उचित है।

व्याख्या—ब्रह्म विद्या एक ही है तथा उसका प्रयोजन भी एक ही है। ऐसी स्थिति में विभिन्न शाखा वाले यदि विधि में थोड़ी भिन्नता ला देते हैं तो उससे उसके प्रयोजन में अन्तर नहीं पड़ने के कारण मान्य है। इसको ध्यान में रखते हुए कुछ स्थानों पर उसका वर्णन अधिक किया गया है व कुछ स्थानों पर कम। किन्तु इससे इस विद्या की एकता में अन्तर नहीं आता।

सूत्र ६ : 'अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्।'

भावार्थ : यदि ऐसा कहो कि कहे हुए शब्द से दोनों की

भिन्नता प्रतीत होती है, अतः एकता सिद्ध नहीं होती, तो ऐसी बात नहीं है। विधि और फल आदि में भेद न होने के कारण दोनों विद्याओं में समानता है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् में 'दहर विद्या' और 'प्राजापत्य विद्या' इन दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन है। ये दोनों ही विद्याएँ परब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग बताने वाली हैं इसलिए इनमें समानता है। दहर विद्या में हृदय के भीतर जो अन्तरिक्ष आकाश है, उसके भीतर जो वस्तु है उसका अनुसंधान करना बताया गया है जबकि प्राजापत्य विद्या में आत्मा को जानने योग्य बताया गया है। इस प्रकार दोनों में शब्द का ही भेद है किन्तु दोनों एक ही हैं। दोनों में जानने योग्य वह परब्रह्म ही है। अतः दोनों में कोई भेद नहीं है।

सूत्र ७ : 'न वा प्रकरणभेदात्परोऽवरीयस्त्वादिवत्।'

भावार्थ : अथवा परम उत्कृष्टता-अपकृष्टता आदि गुणों से युक्त दूसरी विद्याओं की भाँति प्रकरण के भेद से उक्त दोनों विद्याएँ भिन्न सिद्ध नहीं हो सकतीं।

व्याख्या—छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषदों में उद्-गीथ-विद्या का प्रकरण आता है जिनमें दोनों का भिन्न प्रकार से वर्णन है एवं उनके फल में भी भिन्नता है उपासना के प्रकार का भी भेद है। अतः दोनों में समानता नहीं है किन्तु दहर विद्या एवं प्राजापत्य विद्या में ऐसा भेद नहीं है, केवल वर्णन का भेद है। इसलिए इनमें कोई भेद नहीं है।

सूत्र ८ : 'संज्ञातश्चेत्तदुक्त मस्ति तु तदपि।'

भावार्थ : यदि कहो कि संज्ञा से परस्पर भेद होने के कारण एकता सिद्ध नहीं हो सकती तो उसका उत्तर सूत्र (३/३/१) में दे चुके हैं। तथा वह संज्ञा भेद के कारण होने वाली विद्या विषयक विषमता भी अन्यत्र हैं।

व्याख्या—एक विद्या को 'दहर विद्या' तथा दूसरी को 'प्राजापत्य विद्या' कहने में नाम मात्र का ही भेद है, उनके विधि वाक्य, फल और उद्देश्य आदि में भेद नहीं होने से इनकी एकता सिद्ध होती है। इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है।

सूत्र ९ : 'व्याप्तेश्च समंजसम्।'

भावार्थ : ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, इस कारण भी ब्रह्म विद्याओं में समानता है।

व्याख्या—ब्रह्म विषयक सभी विद्याओं का उद्देश्य एक मात्र परब्रह्म के स्वरूप का ही प्रतिपादन करना है। वह परब्रह्म सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ है। इसलिए इनकी एकता होना उचित है।

सूत्र १० : 'सर्वाभेदादन्यत्रेमे।'

भावार्थ : सर्व स्वरूप परब्रह्म सम्बन्धी विद्या से दूसरी विद्या के सम्बन्ध से इन पूर्व सूत्रों में कहे हुए सभी हेतुओं का उपयोग है।

व्याख्या—सभी प्रकार की ब्रह्म विद्याओं में परब्रह्म को अभिन्न सर्वस्वरूप ही कहा गया है इसलिए तत्व की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। इसलिए नाम, प्रकरण और शब्द आदि की भिन्नता से इसमें भिन्नता नहीं आती, क्योंकि ब्रह्म

की सभी संज्ञाएँ हो सकती हैं तथा वर्णन भी भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है।

सूत्र ११ : 'आनन्दादय: प्रधानस्य ।'

भावार्थ : आनन्द आदि सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा के धर्म हैं। उन सबका अन्यत्र भी ब्रह्म के वर्णन में अध्याहार किया जा सकता है।

व्याख्या—परब्रह्म के लिए आनन्द, सर्वगत, सर्वात्मा, सर्वज्ञ आदि जितने भी धर्मों का प्रयोग हुआ है तो वे सभी श्रुतियों में आये हैं। एक गुण का वर्णन यदि एक श्रुति में छूट गया है तो वह दूसरी में आ गया है ऐसा मान लेना चाहिए।

सूत्र १२ : 'प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।'

भावार्थ : 'प्रिय रूप सिर का होना' आदि धर्मों की प्राप्ति अन्यत्र ब्रह्मविद्या के प्रकरण में नहीं होती है क्योंकि इस प्रकार सिर आदि अंगों का भेद मान लेने पर ब्रह्म में बढ़ने घटने का दोष उपस्थित होगा।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि, 'प्रिय ही उसका सिर है, मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा है (तैति० उप० २/५) इस प्रकार पक्षी का रूपक देकर जो अंगों की कल्पना की गई है वह ब्रह्म का स्वरूप गत धर्म नहीं है। क्योंकि इस प्रकार अंग प्रत्यंग के भेद से ब्रह्म में भेद मान लेने पर उसमें घटने बढ़ने की आशंका होगी। इसलिए ब्रह्म के जो स्वाभाविक लक्षण न हों, उनको दूसरी जगह नहीं लेना चाहिए।

सूत्र १३ : 'इतरे त्वर्थसामान्यात् ।'

भावार्थ : किन्तु दूसरे जो आनन्दादि धर्म हैं, वे ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए श्रुति में कहे गये हैं, इसलिए अन्यत्र ब्रह्मविद्या के प्रसंग में उनका ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि उन सब में अर्थ की समानता है ।

व्याख्या—रूपक के लिए अवयव की कल्पना से युक्त जो 'प्रिय शिरत्व' आदि धर्म हैं उनको छोड़कर अन्य जो आनन्द आदि स्वरूप गत धर्म हैं उनका संग्रह प्रत्येक ब्रह्म विद्या के प्रसंग में किया जा सकता है क्योंकि उनमें अर्थ की समानता है अर्थात् उन सबके द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म एक ही है ।

सूत्र १४ : 'आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।'

भावार्थ : अन्य किसी प्रकार का प्रयोजन न होने के कारण यही मालूम होता है कि उस परमेश्वर का भली-भाँति चिन्तन करने के लिए उसका तत्व रूपक द्वारा समझाया गया है ।

व्याख्या—ब्रह्म के विषय में ऐसी कल्पना केवल उपासना की सुगमता के लिए की गई है, दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ।

सूत्र १५ : 'आत्मशब्दाच्च ।'

भावार्थ : 'आत्म' शब्द का प्रयोग होने के कारण भी यह सिद्ध हो जाता है ।

व्याख्या—इसके सिवा इस प्रकरण में बारम्बार सबका अन्तरात्मा बताते हुए अन्त में विज्ञानमय (जीवात्मा) का

अन्तरात्मा आनन्दमय को बतलाया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि 'आनन्दमय' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

सूत्र १६ : 'आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।'

भावार्थ : आत्म शब्द से परमात्मा का ग्रहण दूसरी श्रुति की भाँति उसके बाद के वर्णन से सिद्ध होता है।

व्याख्या—ऐतरेय उपनिषद् (१/१/१) में कहा गया है कि 'पहले यह एक आत्मा ही था, उसने इच्छा की कि मैं लोकों की रचना करूँ।' यहाँ 'आत्मा' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है। इसी प्रकार तैत्तिरीय श्रुति में आनन्दमय आत्मा से समस्त जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। अतः यही सिद्ध होता है कि आत्मा एवं आनन्दमय शब्द परब्रह्म के ही वाचक हैं जीवात्मा के नहीं।

सूत्र १७ : 'अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।'

भावार्थ : यदि कहो कि प्रत्येक वाक्य में आत्म शब्द का अन्वय होने के कारण यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्दमय ब्रह्म है, तो इसका उत्तर यह है कि निर्धारित किये जाने के कारण आनन्दमय ही ब्रह्म है। यह बात सिद्ध हो सकती है।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मवल्ली में आत्मा शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर एवं कई विषयों के लिए हुआ है किन्तु इसमें आनन्दमय को जो आत्मा बताया गया है वही ब्रह्म का वाचक है क्योंकि इसका आत्मा किसी को नहीं बताया गया है।

सूत्र १८ : 'कार्याख्यानादपूर्वम् ।'

भावार्थ : ब्रह्म का कार्य बतलाये जाने के कारण यह पुरुष वह पूर्वोक्त ब्रह्म नहीं हो सकता ।'

व्याख्या—इस प्रकरण में अन्न से जिस पुरुष की उत्पत्ति बताई गई है तथा जिसे अन्न रस मय बताया गया है वह सजीव मनुष्य शरीर का वाचक है, ब्रह्म का नहीं । इस मनुष्य का अन्तरात्मा प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय बताया गया है वह आनन्दमय ही ब्रह्म का वाचक है ।

सूत्र १९ : 'समान एवं चाभेदात् ।'

भावार्थ : एक शाखा में भी इसी प्रकार विद्या की एकता समझनी चाहिए क्योंकि दोनों जगह उपास्य में कोई भेद नहीं है ।

व्याख्या—भिन्न-भिन्न शाखा वालों ने ब्रह्म की उपासना का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है किन्तु उनमें भी उपास्य एक ही परब्रह्म है । इसमें कोई भेद नहीं है उसी प्रकार एक शाखा में भी उस विद्या की एकता समझनी चाहिए ।

सूत्र २० : 'सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।'

भावार्थ : इस प्रकार उपास्य के सम्बन्ध से दूसरी जगह भी क्या विद्या की एकता मान लेनी चाहिए ?

व्याख्या—वृहदारण्यक में पहले कहा गया है कि सत्य ही ब्रह्म है । फिर इसकी एकता सूर्य मण्डल में स्थित पुरुष एवं आँख में स्थित पुरुष के साथ की गई है जिनका रहस्यमय नाम 'अहर' और 'अहम्' बतलाया है । इस प्रकार एक ही उपास्य देव की दो भिन्न-भिन्न उपासनाएँ बताई गई हैं । तो इनमें भेद मानना चाहिए या अभेद ? यह शंका प्रकट की गई है ।

सूत्र २१ : 'न वा विशेषात् ।'

भावार्थ : इन दोनों की एकता नहीं माननी चाहिए क्योंकि इन दोनों पुरुषों के रहस्यमय नाम और स्थान में भेद किया गया है ।

व्याख्या—'अहर' और 'अहम्' जिसका वर्णन पूर्व सूत्र में किया गया है उनमें नाम और स्थान का भेद होने के कारण इन उपासनाओं की एकता नहीं मानी जा सकती । तथा इनके नाम और गुण को दूसरे पुरुष में नहीं माना जा सकता ।

सूत्र २२ : 'दर्शयति च ।'

भावार्थ : श्रुति यही बात दिखलाती भी है ।

व्याख्या—जहाँ इस प्रकार स्थान और नाम भेद हो, वहाँ एक जगह कहे हुए गुण दूसरी जगह नहीं लिये जाते । यह बात श्रुति द्वारा भी दिखलाई गई है । जैसे छान्दोग्य उपनिषद् (१/७/५) में स्पष्ट किया गया है ।

सूत्र २३ : 'सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।'

भावार्थ : तथा इसलिए अर्थात विद्या की एकता न होने के कारण ही समस्त लोकों को धारण करना तथा द्यूलोक आदि अखिल ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित होना ये दोनों ब्रह्म सम्बन्धी गुण भी अन्यत्र नहीं लेने चाहिए ।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य संवाद में अक्षर ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'ये द्यूलोक, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि इसी के शासन में हैं । इसी ने इन सबको धारण कर रखा है ।' (३/८/९) । इसमें 'समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त' और 'सब को धारण करने

वाला' इन दोनों गुणों का आँख में स्थित पुरुष तथा सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष में एकता नहीं की जा सकती क्योंकि ये दोनों सीमित कहे गये हैं जो सर्व व्यापक एवं सबको धारण करने वाले नहीं हो सकते। इस प्रकार जहाँ पूर्ण ब्रह्म का वर्णन नहीं है, उन प्रतीकों में उन गुणों का उपसंहार नहीं हो सकता। यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

सूत्र २४ : 'पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्।'

भावार्थ : पुरुष विद्या में जो गुण बताये गये हैं, वैसे गुण भी अन्य पुरुषों के नहीं हो सकते, क्योंकि श्रुति में उनके ऐसे गुण कहीं नहीं बताये गये हैं।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् में जिस अक्षर ब्रह्म का पुरुष के नाम से वर्णन किया गया है, उसे दिव्य अमूर्त पुरुष कहा गया है तथा उसी से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। इसमें उस पुरुष के जो दिव्य गुण बताये गये हैं वे नेत्र एवं सूर्यमण्डल में स्थित पुरुषों में नहीं बताये गये हैं।

सूत्र २५ : 'वेधाद्यर्थभेदात्।'

भावार्थ : बींधने आदि का वर्णन करके जो ब्रह्म को वेध का लक्ष्य बताया गया है, इन सबका अध्याहार भी अन्य विद्याओं में नहीं करना चाहिए, क्योंकि वहाँ प्रयोजन में भेद है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (२/२/३-४) में कहा गया है कि, 'हे सौम्य! उपनिषद् में वर्णित प्रणवरूप महान् अस्त्र धनुष को लेकर उस पर निश्चय ही उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाये। फिर भाव पूर्ण चित्त के द्वारा उस बाण को खींचकर उस परम अक्षर पुरुषोत्तम को ही लक्ष्य मान

कर बेधे।' 'यहाँ ओंकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य कहा गया है। वह प्रमाद रहित मनुष्य द्वारा ही बींधा जाने योग्य है। अतः उसे बेधकर बाण की तरह उस लक्ष्य में तन्मय हो जाना चाहिए।' यहाँ परमात्मा की उपासना करने का प्रकरण है जिसमें चिन्तन की तन्मयता का वर्णन है। इसका अन्य ब्रह्म विद्याओं में उपसंहार नहीं करना चाहिए।

सूत्र २६ : 'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्।'

भावार्थ : जहाँ केवल दुःख, शोक, पुण्य, पाप आदि के नाश का ही वर्णन है, ऐसी श्रुति में भी लाभ रूप परमधाम की प्राप्ति आदि फल का भी अध्याहार कर लेना चाहिए, क्योंकि वह वाक्य का शेष भाग है। यह बात कुशा, छन्द, स्तुति और उपगान की भांति समझनी चाहिए। ऐसा पूर्व मीमांसा में कहा गया है।

व्याख्या—विभिन्न श्रुतियों में विभिन्न कर्मों तथा परमात्म प्राप्ति का फल हर्ष-शोक का नाश, मृत्यु से छूटना, अविद्या का नाश, हृदय ग्रन्थि का नाश, समस्त संशयों एवं कर्मों का नाश, पापों से छूटना आदि ब्रह्म ज्ञान का फल बतलाया गया है तथा उनमें परमात्मा की प्राप्ति अथवा परम धाम की प्राप्ति नहीं बतलाई गई है वहाँ उपलब्धि रूप फल को भी मान लेना चाहिए, इसी प्रकार जहाँ परमात्म प्राप्ति का वर्णन है वहाँ दुःख नाश आदि को भी समझ लेना चाहिए क्योंकि दोनों का अन्तर्भाव एक ही है। इसको भिन्न-भिन्न

शाखा वालों ने कुशा, छन्द, स्तुति और उपगान आदि के वर्णन में एक की व्याख्या को दूसरे ने अधिक स्पष्ट किया है जैसे एक शाखा वाले कहते हैं कि देव और असुरों के छन्दों की स्तुति करे, इसी को दूसरी शाखा वालों ने कहा कि देव के छन्द पहले बोलने चाहिए आदि। यह पूर्व कथन का ही वाक्य शेष है। इसी प्रकार पापों के नाश से ब्रह्मलोक की प्राप्ति आदि समझ लेनी चाहिए।

सूत्र २७ : 'साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये।'

भावार्थ : ज्ञानी के लिए परलोक में भोग के द्वारा पार करने योग्य कोई कर्मफल शेष नहीं रहता, इस कारण उसके पुण्य कर्म भी यहीं समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि यही बात अन्य शाखा वाले कहते हैं।

व्याख्या—श्रुति कहती है कि पाप और पुण्य दोनों ही कर्मों का फल होता है किन्तु ज्ञान प्राप्ति पर दोनों का ही क्षय हो जाने से वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। वृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२२) में कहा गया है कि, 'यह ज्ञानी निश्चय ही पुण्य और पाप दोनों को ही पार कर जाता है।' मुण्डक उपनिषद् (३/१/३) में भी कहा है, 'उस समय ज्ञानी पुरुष पुण्य और पाप दोनों को हटाकर निर्मल हो सर्वोत्तम साम्यरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।' इससे सिद्ध होता है कि मृत्यु के समय ज्ञानी के सभी संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं तथा मृत्यु के बाद उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर्मों का फल नहीं बल्कि कर्म क्षय से प्राप्त होती है। यह ज्ञान का ही फल है।

सूत्र २८ : 'छन्दत: उभयथाविरोधात्।'

भावार्थ : ज्ञानी पुरुष के संकल्प के अनुसार दोनों प्रकार की स्थिति होने में कोई विरोध नहीं है। इसलिए ब्रह्मलोक में जाने का विधान है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (३/१४/१) में कहा गया है कि 'यह पुरुष निश्चय ही संकल्पमय है। इस लोक में पुरुष जैसे संकल्प वाला होता है, वैसा ही देहत्याग के पश्चात् यहाँ से परलोक में जाने पर भी होता है।' इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी पुरुष यदि यहीं मुक्त होने का संकल्प करता है तो वह यहीं ब्रह्म सायुज्य को प्राप्त हो जाता है परन्तु ब्रह्मलोक के दर्शन की इच्छा का संकल्प करता है वह देवयान मार्ग से वहाँ जाकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों प्रकार की गति में कोई विरोध नहीं है।

सूत्र २९ : 'गतेरर्थवत्वमुभयथान्यथा हि विरोधः।'

भावार्थ : गति बोधक श्रुति की सार्थकता दोनों प्रकार से ब्रह्म की प्राप्ति मानने पर ही होगी क्योंकि यदि अन्य प्रकार से माने तो श्रुति में परस्पर विरोध आयेगा।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/३/१४-१५) में तत्काल ही ब्रह्म की प्राप्ति बतलाई है तथा मुण्डक उपनिषद् (३/२/६) में ब्रह्म-लोक में जाने पर मुक्ति बताई गई है। इसलिए उक्त दोनों प्रकार की व्यवस्था मानना उचित है अन्यथा श्रुतियों में विरोध आता है। साधक के संकल्पानुसार ही उसकी गति होती है।

सूत्र ३० : 'उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्।'

भावार्थ : उस देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्म लोक में जाने के

उपर्युक्त सूक्ष्म शरीरादि उपकरणों की प्राप्ति का कथन होने से उनके लिए ब्रह्मलोक में जाने का कथन युक्तिसंगत है। लोक में भी ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या—उपनिषदों में ब्रह्मलोक में जाने के दोनों मार्गों का वर्णन पाया जाता है तथा संकल्प को ही उसका कारण बतलाया गया है इसलिए दोनों ही मार्गों का मानना ठीक है। लोक में भी यही देखा जाता है कि किसी स्थान विशेष पर पहुंचने के लिए किसी मार्ग से ही होकर जाना पड़ता है। ऐसा ही परलोक गमन में भी है।

सूत्र ३१ : 'अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।'

भावार्थ : ऐसा नियम नहीं है कि उन्हीं विद्याओं के अनुसार उपासना करने वाले देवयान मार्ग द्वारा जाते हैं, अपितु ब्रह्मलोक में जाने वाले सभी साधकों की गति उसी मार्ग से होती है। यही बात श्रुति और स्मृतियों से सिद्ध होती है। इसलिए कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—विभिन्न श्रुतियों में जहाँ-जहाँ ब्रह्मलोक में जाने का वर्णन है किन्तु मार्ग का वर्णन नहीं है वहाँ भी उसी देवयान मार्ग से ही जाना समझना चाहिए क्योंकि इसमें गमन किसी न किसी मार्ग से ही होगा। उपासना करने वाले ही इस मार्ग से जाते हों तथा अन्य नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं है। जो परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं वे ब्रह्मलोक में नहीं जाते।

सूत्र ३२ : 'यावदाधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।'

भावार्थ : जो अधिकार प्राप्त कारक पुरुष हैं उनकी जब

तक अधिकार की समाप्ति नहीं होती तब तक अपनी इच्छानुसार स्थिति रहती है।

व्याख्या—कुछ महापुरुष जैसे वशिष्ठ, व्यास आदि विशेष अधिकार प्राप्त हैं। वे लोक कल्याण के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक कहीं भी आ-जा सकते हैं। सामान्य व्यक्तियों की भाँति उनका जन्म-मरण नहीं होता। वे परमेश्वर की आज्ञा से ही इस लोक में आते हैं एवं अपना कार्य करके पुनः परमात्मा में लीन हो जाते हैं। वे अन्य साधक एवं मुक्त पुरुषों से भिन्न होते हैं।

सूत्र ३३ : 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसद-वत्तदुक्तम्।

भावार्थ : अक्षर अर्थात् परमात्मा के निर्गुण निराकार विषयक लक्षणों का भी सब जगह अध्याहार करना उचित है, क्योंकि ब्रह्म के सभी विशेषण समान हैं तथा उसी के स्वरूप को लक्ष्य करने वाले भाव हैं। अतः 'उपसत्' कर्म सम्बन्धी मंत्रों की भाँति उनका अध्याहार कर लेना उचित है, यह बात कही गई है।

व्याख्या—उपनिषदों में ब्रह्म के जो-जो लक्षण बताये गये हैं उनको ब्रह्म के वर्णन में सभी जगह ग्रहण कर लेना चाहिए, क्योंकि उसके सभी लक्षण समान हैं।

सूत्र ३४ : 'इयदामननात्।'

भावाथ : **उक्त तीनों मन्त्रों में एक ही ब्रह्म विद्या का वर्णन है क्योंकि सभी जगह इयत्ता (इतनापन) का वर्णन समान है।**

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/१/१-२) में दो पक्षी का दृष्टान्त देकर जीवात्मा और परमात्मा को मनुष्य के हृदय में स्थित बताया है जिनमें जीवात्मा भोक्ता है तथा ईश्वर दृष्टा मात्र है। कठोपनिषद् (१/३/१) में ईश्वर को मनुष्य के हृदय में धूप और छाया की भाँति बतलाया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (४/६) में भी दो पक्षी का उदाहरण दिया गया है। इन तीनों स्थलों के वर्णन से यही सिद्ध होता है कि तीनों स्थानों पर कही गई विद्या एक ही है। अतः जहाँ-जहाँ परब्रह्म को हृदय में स्थित बताया गया है उनमें एकता समझ लेनी चाहिए।

सूत्र ३५ : 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः।'

भावार्थ : आकाशादि भूत समुदाय की भाँति वह परमात्मा साधक के अपने आत्मा का भी अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) है। क्योंकि यही बात अन्य श्रुति में कही गई है।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् (३/५ तथा ३/४/१-२) में कहा गया है कि 'जो तेरा अन्तरात्मा है वही सबका अन्तरात्मा है।' यह अन्तरात्मा जीवात्मा नहीं बल्कि वही परब्रह्म है। जिस प्रकार समस्त भूत समुदाय में पृथ्वी का अन्तरात्मा जल है, जल का तेज है, तेज का वायु है, और वायु का आकाश है उसी प्रकार समस्त जड़ पदार्थों का अन्तरात्मा जीवात्मा है और जीवात्मा का भी जो अन्तरात्मा है वही सबका अन्तरात्मा है, वह परब्रह्म है क्योंकि श्रुति में यही बात कही गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/११) में भी कहा है, 'सब प्राणियों में छिपा हुआ वह देव सर्वव्यापी है और समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह सबके कर्मों का अधिष्ठाता,

सबका निवास स्थान, सबका साक्षी, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है।' इसलिए यही सिद्ध होता है कि सबका अन्तरात्मा वह परब्रह्म ही है। जीवात्मा सबका अन्तरात्मा नहीं हो सकता।

सूत्र ३६ : **'अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्।'**

भावार्थ : यदि कहो कि दूसरे प्रकार से अभेद की सिद्धि नहीं होगी, इसलिए उक्त प्रकरण में जीवात्मा और परमात्मा का अभेद मानना ही उचित हैं, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरे उपदेश की भाँति अभेद की सिद्धि हो जायेगी।

व्याख्या—जिस प्रकार अन्य स्थान पर कार्य कारण भाव के अभिप्राय से परब्रह्म की जड़-प्रपंच और जीवात्मा के साथ एकता करके उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार प्रत्येक स्थान में अभेद की सिद्धि हो जाएगी। कहीं भी इनमें भेद नहीं किया गया है।

सूत्र ३७ : **'व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत्।'**

भावार्थ : परस्पर व्यत्यय करके अभेद का वर्णन है, इसलिए उपाधिकृत भेद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सभी श्रुतियाँ दूसरे की भाँति विशेषण देकर वर्णन करती हैं।

व्याख्या—श्रुति में कई स्थलों पर ऐसा वर्णन किया गया है कि, 'जो मैं हूँ सो वह है, और जो वह है सो मैं हूँ आदि। इस प्रकार जीवात्मा की जो परमात्मा से एकता स्थापित की गई है वह उपासना की दृष्टि से की गई है। जहाँ उपाधिकृत भेद होता है वहाँ ऐसा कथन संगत नहीं होता किन्तु उपासना

के लिए इस अभेद को मान लेने से वह शीघ्र ही परब्रह्म को उपलब्ध हो जाता है।

सूत्र ३८ : 'सैव हि सत्यादयः।'

भावार्थ : परमात्मा और जीव का औपाधिक भेद तथा वास्तव में अत्यन्त अभेद मानने पर वही अनुपपत्ति है। क्योंकि 'परमात्मा के सत्य संकल्पत्व आदि धर्म जीवात्मा के नहीं माने जा सकते।

व्याख्या—परमात्मा के जो विशेष धर्म हैं वे जीवात्मा से संभव नहीं है। जब दोनों के धर्मों में समानता नहीं है तब उनका अत्यन्त अभेद सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए परमात्मा और जीवात्मा का भेद उपाधिकृत है—यह मानना असंगत है।

सूत्र ३९ : 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः।'

भावार्थ : उस परब्रह्म के दूसरी जगह बताये हुए सत्यकामत्वादि धर्म जहां निर्विशेष स्वरूप का वर्णन है, वहां भी है, क्योंकि वहाँ उसके सर्वाधारत्व आदि धर्मों का वर्णन पाया जाता है।

व्याख्या—उस परब्रह्म का स्वरूप जहाँ श्रुति में निर्विशेष बताया गया है वहाँ जगत् को धारण करने आदि के सविशेष धर्मों का भी वर्णन है क्योंकि उसे नित्य, विभु, सर्वगत, सब प्राणियों को धारण करने वाला विशेष धर्मों से युक्त भी बताया गया है मुण्डक उप० (१/१/६) इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा दोनों धर्मों वाला है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा में समान धर्मता नहीं होने से उनमें सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता।

सूत्र ४० : 'आदरादलोपः ।'

भावार्थ : यह कथन परमेश्वर के प्रति आदर का प्रदर्शक होने के कारण, उसमें अन्य दृष्टा का लोप अर्थात् निषेध नहीं है ।

व्याख्या—उस परब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ बताने के लिए वहाँ आदर की दृष्टि से अन्य दृष्टा का निषेध किया गया है। वास्तव में नहीं है । परमेश्वर सर्वश्रेष्ठ दृष्टा है, सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है । उसकी अपेक्षा जीव दृष्टा होते हुए भी नहीं के बराबर है क्योंकि उसका दृष्टापन परमेश्वर के ही कारण है । वह सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है ।

सूत्र ४१ : 'उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।'

भावार्थ : उक्त वचनों से किसी प्रकार अन्य चेतन का निषेध प्राप्त होने पर भी इस ब्रह्म की अपेक्षा अन्य दृष्टा का निषेध बताने के कारण वह कथन आदरार्थक ही है। क्योंकि उन वाक्यों के साथ बार-बार अतः शब्द का प्रयोग किया गया है ।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् (३/७/२३) में उस परमात्मा से अन्य दृष्टा, श्रोता आदि का निषेध किया गया है वहाँ उस वर्णन में बार-बार 'अतः' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसलिए यही सिद्ध होता है कि परमात्मा की अपेक्षा अन्य कोई दृष्टा और श्रोता नहीं है । इससे अन्य का सर्वथा निषेध नहीं होता बल्कि परमात्मा की सर्वश्रेष्ठता ज्ञात होती है । जीवात्मा भी दृष्टा है किन्तु परमात्मा उससे श्रेष्ठ है ।

सूत्र ४२ : 'तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ।'

भावार्थ : भोगों के भोगने का निश्चित नियम नहीं है, क्योंकि यह बात उस प्रकरण में बार-बार 'यदि' शब्द के प्रयोग से देखी गई है। इसके सिवा, दूसरा कारण यह भी है कि कामोपभोग से भिन्न संकल्प वाले के लिए जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना ही फल बताया गया है।

व्याख्या—ब्रह्मलोक में जाने वाले सभी साधकों को उस लोक के दिव्य भोगों का उपभोग करना पड़े, यह नियम नहीं है। जो ब्रह्मलोक या अन्य किसी देवलोक के भोगों को भोगने की इच्छा रखता है उसी को वे भोग मिलते हैं। ब्रह्म विद्या का यह मुख्य फल नहीं है। परमात्म प्राप्ति में ये भोग विलम्ब करने वाले विघ्न हैं जिनकी उपेक्षा करनी चाहिए। भोगों की जिनकी इच्छा नहीं है वे ही जन्म-मरण से छूटकर परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

सूत्र ४३ : 'प्रदानवदेव तदुक्तम्।'

भावार्थ : वह कथन वरदान की भांति ही है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२/३/१४) में कहा गया है कि 'जब मनुष्य की सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तभी वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूटकर अमर हो जाता है और यहीं इस मनुष्य शरीर में ही वह उस परब्रह्म का अनुभव कर लेता है।' ये कामनाएँ ही ब्रह्म प्राप्ति में विघ्न स्वरूप हैं। स्वर्ग आदि की कामनाओं के त्याग की बात कहना वरदान स्वरूप है जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।'

सूत्र ४४ : 'लिंगभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि।'

भावार्थ : जन्म-मरण रूप संसार से सदा के लिए मुक्त

होकर उस परब्रह्म को प्राप्त हो जाना रूप फल बताने वाले लक्षणों की अधिकता होने के कारण वही फल बलवान है क्योंकि वह दूसरे फलों का वर्णन भी मुख्य फल का महत्व प्रकट करने के लिए ही है।

व्याख्या—वेदान्त शास्त्र में जहाँ-जहाँ ब्रह्मज्ञान के फल का वर्णन किया गया है वहाँ जन्म-मृत्यु रूप संसार से सदा के लिए छूट कर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाना रूप फल का ही अधिकता से वर्णन मिलता है इसलिए वही प्रधान फल है, ऐसा मानना चाहिए। भोग की प्राप्ति का जो फल बताया गया है वह भी मुख्य फल की प्रधानता सिद्ध करने के लिए ही है।

सूत्र ४५ : 'पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत्।'

भावार्थ : शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में स्वीकृत विकल्प की भाँति पहले कही हुई अग्नि विद्या भी विकल्प से मुक्ति की हेतु हो सकती है। यह बात प्रकरण से सिद्ध होती है।

व्याख्या—जिस प्रकार उपासना सम्बन्धी शारीरिक क्रिया की भाँति मानसिक क्रिया भी फल देने में समर्थ है। दोनों से ही समान फल मिलता है उसी प्रकार का फल अग्निहोत्र से भी मिलता है यह वात कठोपनिषद् में यमराज ने नाचिकेता को वताई है यमराज ने कहा, 'इस अग्निहोत्र का तीन बार अनुष्ठान करने वाला जन्म-मृत्यु से तर जाता है और अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है।' कठोपनिषद् (१/१/१७-१८)। इससे यही मानना चाहिए कि अग्नि होत्र भी मुक्ति का कारण है। यह शंका उठाई गई है।

सूत्र ४६ : 'अतिदेशाच्च ।'

भावार्थ : अतिदेश से अर्थात् विद्या के समान कर्मों को मुक्ति में हेतु बताया जाने के कारण भी ऊपर कही हुई बात सिद्ध होती है ।

व्याख्या—श्रुति में विद्या को तो मुक्ति का हेतु बताया ही गया है किन्तु कर्म को भी मुक्ति का हेतु बताया गया है । कठोपनिषद् (१/१/१७) में कहा गया है कि, 'यज्ञ, दान और तप रूप तीनों कर्मों को निष्काम भाव से करता रहने वाला मनुष्य जन्म-मृत्यु से तर जाता है ।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि निष्काम कर्म भी मुक्ति का हेतु है । गीता में भी निष्काम कर्म पर बल दिया गया है । यह भी शंका उठाई गई है ।

सूत्र ४७ : 'विद्यैव तु निर्धारणात् ।'

भावार्थ : किन्तु श्रुतियों द्वारा निश्चित रूप से कह दिया जाने के कारण केवल मात्र ब्रह्म विद्या ही मुक्ति में कारण है, कर्म नहीं ।

व्याख्या—उपरोक्त दोनों शंकाओं का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि श्रुतियों के अनुसार केवल ब्रह्मविद्या ही मुक्ति का कारण है, कर्म नहीं । श्वेताश्वतर उपनिषद् (३/८) में कहा गया है कि, 'उस परब्रह्म परमात्मा को जानकर ही मनुष्य मृत्यु का उल्लंघन कर जाता है । परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है ।' इस प्रकार एक मात्र ब्रह्म ज्ञान को ही मुक्ति का मार्ग बताया है, कर्म को नहीं । कठोपनिषद् (२/२/१२) में यमराज नाचिकेता से कहते हैं कि, 'अपने ही हृदय में स्थित परमेश्वर को जो ज्ञानी देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं ।' इसलिए

पहले अग्नि विद्या के प्रकरण में जो मुक्ति की बात कही गई है वह स्वर्ग-लोक की स्तुति करने के लिए गौण रूप से कही गई है।

सूत्र ४८ : 'दर्शनाच्च।'

भावार्थ : श्रुति में जगह-जगह वैसा वर्णन देखा जाने से भी यही दृढ़ होता है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (१/२/६-१० एवं ३/२/५-६) में कहा गया है कि यज्ञादि कर्मों का फल स्वर्ग लोक में जाकर वापस आना और ब्रह्मज्ञान का फल जन्म-मरण से छूटकर परमात्मा कोप्राप्त हो जाना बताया गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि एक मात्र ब्रह्म विद्या ही मुक्ति की हेतु है, यज्ञादि कर्म नहीं।

सूत्र ४९ : 'श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः।'

भावार्थ : प्रकरण की अपेक्षा श्रुति प्रमाण और लक्षण आदि बलवान होने के कारण भी प्रकरण के द्वारा सिद्धान्त का बाध नहीं हो सकता।

व्याख्या—वेद के अर्थ और भाव का निर्णय करने के लिए प्रकरण की अपेक्षा श्रुति का वचन और लक्षण आदि अधिक बलवान माने जाते हैं इसलिए सिद्धान्त में प्रकरण बाधक नहीं बन सकते। इसलिए सिद्धान्त रूप से यही सिद्ध होता है कि परमात्मा की प्राप्ति और जन्म-मरण से छूटने में ब्रह्मविद्या ही एक मात्र साधन है, सकाम यज्ञ आदि कर्म नहीं।

सूत्र ५० : 'अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्।'

भावार्थ : भाव विषयक अनुबन्ध आदि के भेद से उद्देश्य

भेद से की जाने वाली दूसरी उपासनाओं के पार्थक्य (भेद) की भाँति इसकी भी पृथकता है, ऐसा कथन उन-उन प्रकरणों में देखा गया है, तथा यह पहले भी बताया जा चुका है।

व्याख्या—जिस प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना भिन्न-भिन्न उद्देश्य से की जाती है तथा उद्देश्य के अनुसार ही उनका फल होता है उसी प्रकार एक ही उद्देश्य से की जाने वाली ब्रह्म विद्या में भी साधकों की भिन्न भावना होने से उनका फल भी भिन्न होता है फिर साधकों की योग्यता में भिन्नता होने से भी उसकी फल प्राप्ति में भेद हो जाता है। संसार बन्धन से मुक्ति तथा परमात्म प्राप्ति तो यथा समय ही होती है। जिनको ब्रह्मलोक में भोगों की प्राप्ति का संकल्प है उनको ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता। जो भोगों से सर्वथा विरत है उन्हीं को परमात्मा का साक्षात्कार होता है अन्यथा नहीं।

सूत्र ५१ : 'न सामान्यादप्युपलब्धेमृत्युवन्न हि लोकापत्तिः।'

भावार्थ : यद्यपि सभी ब्रह्म विद्या समान भाव से मोक्ष में हेतु है तथापि बीच में होने वाले फल भेद का निषेध नहीं है। क्योंकि परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर जिस प्रकार मृत्यु हो जाने पर जीवात्मा का स्थूल शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार उसका सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए किसी भी लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती।

व्याख्या—सभी ब्रह्म विद्या अन्त में मोक्ष देने वाली हैं,

इसमें सबकी समानता है किन्तु किसी का ब्रह्मलोक में जाना और किसी का यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाना इत्यादि जो फल भेद हैं इनका निषेध नहीं किया गया है। जिसे मृत्यु से पूर्व ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है तथा जिसकी किसी भी प्रकार की वासना शेष नहीं है वह अन्य किसी लोक में न जाकर सीधा ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। उसका प्रारब्ध भोग समाप्त हो जाने पर स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के तत्व अपने-२ कारण तत्वों में विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार मृत्यु के समय शरीर के पाँचों तत्व, पाँचों भूतों में विलीन हो जाते हैं (मुण्डक उपनिषद् (३/२/७) में भी यही कहा गया है।

सूत्र ५२ : 'परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूपस्त्वात्वनुबन्धः।'

भावार्थ : बाद वाले मन्त्रों से यह सिद्ध होता है तथा उसमें कहे हुए शब्द समुदाय का उसी प्रकार का भाव है किन्तु अन्य साधकों के दूसरे भावों की अधिकता से सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध रहता है। इस कारण वे ब्रह्मलोक में जाते हैं।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/२/६-७-८) में ब्रह्मलोक की प्राप्ति एवं ब्रह्म की प्राप्ति का स्पष्टीकरण देते हुए कहा गया है कि जिनके अन्तःकरण में ब्रह्मलोक के महत्व का भाव है, वहाँ जाने के संकल्प से जिनका सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ, ऐसे ही साधक ब्रह्मलोक में जाते हैं किन्तु जिनको यहीं साक्षात्कार हो जाता है वे नहीं जाते। यह फल भेद होना उचित है।

सूत्र ५३ : 'एक आत्मनः शरीरे भावात्।'

भावार्थ : कई एक कहते हैं कि आत्मा का शरीर होने पर

ही भाव होने के कारण शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता नहीं है।

व्याख्या—नास्तिकों की यह मान्यता है कि जब तक शरीर है तभी तक इसमें चेतन आत्मा की प्रतीति होती है। शरीर के अभाव में आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है। अतः मृत्यु के बाद कर्मफल का भोग करना एवं ब्रह्मलोक में जाना आदि बातें असंगत हैं।

सूत्र ५४ : 'व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।'

भावार्थ : शरीर से आत्मा भिन्न है, क्योंकि शरीर रहते हुए भी उसमें आत्मा नहीं रहता, इसलिए आत्मा शरीर नहीं है किन्तु ज्ञातापन की उपलब्धि के सदृश आत्मा का शरीर से भिन्न होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—उपर्युक्त नास्तिक मत का खंडन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि शरीर को आत्मा मानना ठीक नहीं है क्योंकि शरीर के मृत होने पर शरीर रहते हुए भी उसमें आत्मा नहीं रहती है। इसी प्रकार शरीर के न रहने पर भी आत्मा रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है जो शरीर से बाहर भी सूक्ष्म रूप से रहता है। उसका अभाव नहीं होता। यदि आत्मा नहीं होता तो एक दूसरे को जाना नहीं जा सकता था, क्योंकि जड़ में जानने की शक्ति नहीं होती। इससे यही मानना चाहिए कि आत्मा शरीर से भिन्न है।

सूत्र ५५ : 'अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्।'

भावार्थ : यज्ञ के उद्गीथ आदि अंगों से सम्बद्ध उपासनाएँ

जिस शाखा में कही गई हो, उसी में करने योग्य है, ऐसी बात नहीं है। किन्तु प्रत्येक वेद की शाखा वाले उसका अनुष्ठान कर सकते हैं।

व्याख्या—वेदों की भिन्न-२ शाखाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की उपासना बताई गई है उसमें हर शाखा वाले अपनी ही शाखा में बताई गई उपासना ही करे यह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक वेद की शाखा वाले उसका अनुष्ठान कर सकते हैं।

सूत्र ५६ : 'मन्त्रादिवद्वाविरोधः।'

भावार्थ : अथवा यों समझो कि मन्त्र आदि की भाँति इसमें कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार एक शाखा में बताये हुए मन्त्र और यज्ञोपयोगी अन्य पदार्थ दूसरी शाखा वाले भी काम में ला सकते हैं उसी प्रकार पूर्व सूत्र में कही गई उपासनाओं में भी कोई विरोध नहीं है।

सूत्र ५७ : 'भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति।'

भावार्थ : अंग-उपाँग से परिपूर्ण यज्ञ की भाँति पूर्ण उपासना की श्रेष्ठता है क्योंकि वैसा ही कथन श्रुति दिखलाती है।

व्याख्या—जिस प्रकार यज्ञ में सर्वांग पूर्ण अनुष्ठान ही श्रेष्ठ है उसी प्रकार वैश्वानर विद्या आदि में बताई हुई उपासना का अनुष्ठान भी पूर्ण रूप से करना ही श्रेष्ठ है, उसके किसी एक अंग का नहीं। यह छान्दोग्य उपनिषद् (५/११-१७ तथा ५/१८/१) में भी बताई गई है।

सूत्र ५८ : 'नाना शब्दादिभेदात् ।'

भावार्थ : शब्द आदि का भेद होने के कारण सब विद्याएँ अलग-अलग हैं ।

व्याख्या—सब विद्याओं में भिन्न-भिन्न नाम एवं प्रकार हैं किसी अधिकारी के लिए एक प्रकार की तथा दूसरे के लिए दूसरे प्रकार की विद्या उपयुक्त रहती है। इसलिए सबकी विधि भिन्न-भिन्न है यद्यपि इनका फल एक ही ब्रह्म प्राप्ति है ।

सूत्र ५९ : 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ।'

भावार्थ : सब विद्याओं का एक ही फल है, फल में भेद नहीं है। इसलिए अलग-अलग अनुष्ठान करना ही उचित है ।

व्याख्या—जब सभी विद्याओं के अनुष्ठान का एक ही फल है—ब्रह्म साक्षात्कार, तो फिर इनको मिलाकर नहीं बल्कि अलग-अलग ही अनुष्ठान करना उचित है ।

सूत्र ६० : 'काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ।'

भावार्थ : सकाम उपासनाओं का अनुष्ठान तो अपनी-२ कामना के अनुसार समुच्चय करके किया करें अथवा समुच्चय न करके अलग-अलग करें, क्योंकि इनमें पूर्वोक्त हेतु (फल की समानता) का अभाव है ।

व्याख्या—सकाम उपासनाओं में भिन्न-भिन्न उपासना का भिन्न-भिन्न फल होता है। इसलिए सकाम उपासक अपनी कामना के अनुसार जैसा आवश्यक समझे वैसी उपासना ही

करे। जिन-जिन भोगों की कामना हो उसके अनुसार एक ही प्रकार की अथवा समुच्चय करके उपासना करे। दोनों में कोई बाधा नहीं है।

सूत्र ६१ : **'अङ्गेषु यथाश्रयभाव:।'**

भावार्थ : भिन्न-भिन्न अंगों में की जाने वाली उपासनाओं का यथाश्रय भाव है, अर्थात् जो उपासना जिस अंग के आश्रित है, उस अंग के अनुसार ही उस उपासना का भी भाव समझ लेना चाहिए।

व्याख्या—यज्ञ कर्म के अंगभूत की जाने वाली उपासनाएँ जिस अंग के आश्रित हैं, उसके अनुसार ही उसकी व्यवस्था करनी चाहिए। इस प्रकार कर्मों के अनुसार उनका समुच्चय हो सकता है।

सूत्र ६२ : **'शिष्टेश्च।'**

भावार्थ : श्रुति के शासन (विधान) से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुति का नियम भी यही है कि कर्मों के अंगों के अनुसार उपासनाओं का समुच्चय हो सकता है।

सूत्र ६३ :समाहारात्।'

भावार्थ : कर्मों का समाहार बताया गया है, इसलिए उनके आश्रित उपासनाओं का भी समाहार (समुच्चय) उचित ही है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (१/५/५) में बताये गये सूत्र के अनुसार भी उपासना का समुच्चय सूचित होता है।

सूत्र ६४ : 'गुणसाधारण्यताश्रुतेश्च ।'

भावार्थ : गुणों की साधारणता बताने वाली श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है ।

व्याख्या—उपासना का जो गुण ओंकार है, उसका प्रयोग समान भाव से दिखाया है । इसलिए भी उपासनाओं का समुच्चय होना उचित सिद्ध होता है ।

सूत्र ६५ : 'न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।'

भावार्थ : किन्तु उन-उन उपासनाओं का समुच्चय बताने वाली श्रुति नहीं है । इसलिए उपासनाओं का समुच्चय सिद्ध नहीं हो सकता ।

व्याख्या—उपर्युक्त चार सूत्रों में उपासना के समुच्चय की बात कही गई है किन्तु वास्तव में सभी उपासनाएँ भिन्न-२ उद्देश्य से की जाती हैं इसलिए इनका समुच्चय नहीं हो सकता । इन्हें अलग-अलग ही करनी चाहिए ।

सूत्र ६६ : 'दर्शनाच्च ।'

भावार्थ : श्रुति में उपासनाओं का समाहार न करना दिखाया गया है । इसलिए भी उनका समाहार सिद्ध नहीं हो सकता ।

व्याख्या—श्रुति से यही सिद्ध होता है कि उपासनाओं का कर्म के साथ समुच्चय नहीं होता है क्योंकि उपासनाएँ कर्म के अधीन नहीं हैं, स्वतन्त्र हैं । इसलिए उनका अलग ही अनुष्ठान करना चाहिए ।

।। तीसरा पाद सम्पूर्ण ।।

तीसरा अध्याय

चौथा पाद

सूत्र १ : 'पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः।'

भावार्थ : परब्रह्म प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ की सिद्धि इससे अर्थात् ब्रह्मज्ञान से होती है क्योंकि शब्द (श्रुति वचन) से यही सिद्ध होता है। यह बादरायण कहते हैं।

व्याख्या—महर्षि वेदव्यास अपना मत बतलाते हैं कि श्रुति वचनों से यही सिद्ध होला है कि परमात्मा की प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि ब्रह्मज्ञान से ही होती है जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् (७/१/३), मुण्डक उपनिषद् (३/२/८) तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (५/१३) में कहा गया है।

सूत्र २ : 'शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः।'

भावार्थ : कर्म का अंग होने के कारण ब्रह्मविद्या को पुरुषार्थ का हेतु बताना अर्थवाद मात्र है, जिस प्रकार यज्ञ के दूसरे अंगों में फल श्रुति अर्थवाद मानी जाती है। यह आचार्य जैमिनि कहते हैं।

व्याख्या– आचार्य जैमिनि यह मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान

कराने वाली विद्या भी कर्म का अंग है इसलिए उसे पुरुषार्थ का साधन बताना उसकी प्रशंसा करना है। पुरुषार्थ का साधन तो वास्तव में कर्म ही है जिस प्रकार कर्म के दूसरे अंगों की फल श्रुति उनकी प्रशंसा मात्र समझी जाती है, वैसे ही इसे भी समझना चाहिए।

सूत्र ३ : 'आचारदर्शनात्।'

भावार्थ : श्रेष्ठ पुरुषों का आचार देखने से भी यही सिद्ध होता है कि विद्या कर्मों का अंग है।

व्याख्या—श्रुतियों में उल्लेख है कि राजा जनक, राजा अश्वपति, महर्षि उद्दालक, याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मवादी भी यज्ञ एवं गृहस्थ कर्म करने वाले थे। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्म का ही अंग है और वह पुरुषार्थ का साधन है।

सूत्र ४ : 'तच्छ्रुतेः।'

भावार्थ : तद्विषयक श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (१/१/१०) में कहा गया है कि 'जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योग से युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है।' इस प्रकार श्रुति में विद्या को कर्म का अंग बतलाया है। इसलिए भी यही सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान पुरुषार्थ का हेतु नहीं है।

सूत्र ५ : 'समन्वारम्भणात्।'

भावार्थ : विद्या और कर्म दोनों जीवात्मा के साथ जाते हैं, यह कथन होने के कारण भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—मृत्यु के बाद जीवात्मा के साथ प्राण, अन्तः

करण और इन्द्रियों के साथ विद्या और कर्म भी जाते हैं जैसा कि वृह० उप० (४/४/२) में कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का ही अंग है।

सूत्र ६ : 'तद्वतो विधानात्।'

भावार्थ : आत्मज्ञान युक्त अधिकारी के लिए कर्मों का विधान होने के कारण भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (८/१५/१) में कहा गया है कि 'जो शास्त्रोक्त विधि से आचरण करता है वह भी ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।' इस तरह विद्या पूर्वक कर्म करने के विधान से यह बात सिद्ध होती है कि विद्या कर्म का अंग है।

सूत्र ७ : 'नियमाच्च।'

भावार्थ : श्रुति में नियमित किया जाने के कारण भी कर्म अवश्य कर्तव्य है। अतः विद्या कर्म का अंग है, यह सिद्ध होता है।

व्याख्या—ईशावास्य उपनिषद् (२) में कहा गया है कि 'इस जगत में शास्त्र नियत कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार किये जाने वाले कर्म तुझ मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे। इससे अन्य कोई मार्ग नहीं है।' इस प्रकार आजीवन कर्मानुष्ठान का नियम होने से यही सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान पुरुषार्थ का हेतु नहीं है।

सूत्र ८ : 'अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।'

भावार्थ : किन्तु श्रुति में कर्मों की अपेक्षा अधिक ब्रह्मविद्या के महात्म्य का कथन होने के कारण व्यास जी का मत जैसा प्रथम सूत्र में कहा गया था वैसा

ही है। क्योंकि श्रुति में विद्या की अधिकता वैसी दिखलाई गई है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि ने विद्या को कर्म का अंग बताया है किन्तु बादरायण इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि शरीर स्थिति के लिए तथा लोक संग्रह के लिए किये गए कर्मों से कोई हानि नहीं है किन्तु परमात्म प्राप्ति रूप पुरुषार्थ का कारण तो ज्ञान ही है। अकेले कर्म एवं कर्म तथा ज्ञान का समुच्चय कारण नहीं है। मुण्डक उपनिषद् (१/२/१०) में कहा है, 'इष्ट और पूर्व कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले मूर्ख लोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेयको नहीं जानते। वे शुभकर्मों के फल स्वरूप स्वर्गलोक के उच्चतम स्थान में वहाँ के भोगों का अनुभव करके इस मनुष्य लोक में या इससे भी अत्यन्त नीचे के लोक में गिरते हैं।' मुण्डक उपनिषद् (२/२/८) में कहा है, 'कार्य-कारण रूप उस ब्रह्म को जान लेने पर मनुष्य के हृदय की चिज्जड़-ग्रन्थि का भेदन हो जाता है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है।' इस प्रकार श्रुतियों में सब जगह कर्मों की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान का ही महत्व बताया गया है। इसलिए ब्रह्म विद्या कर्मों का अंग है।

सूत्र ९ : 'तुल्यं तु दर्शनम्।'

भावार्थ : आचार का दर्शन तो समान है अतः उससे विद्या कर्म का अंग है यह नहीं सिद्ध होता।

व्याख्या—आचार का दर्शन तो दोनों प्रकार से कहा गया है। ज्ञानी ज्ञान प्राप्त करके भी कर्म में प्रवृत्त रह सकता है जैसे जनक आदि तथा संन्यासी कर्म का त्याग भी कर सकता है। जिनको ज्ञान प्राप्त हो गया है उनको न तो कर्म करने से कोई

प्रयोजन है न उनके त्याग से ही, ऐसा गीता में भी (३/१७) में कहा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि परम पुरुषार्थ का हेतु केवल ब्रह्मज्ञान ही है और वह कर्म का अंग नहीं है।

सूत्र १० : 'असार्वत्रिकी।'

भावार्थ : वह श्रुति सर्वत्र सम्बन्ध रखने वाली नहीं है— एक देशीय है।

व्याख्या— विद्या को कर्म का अंग मानने में छान्दोग्य उपनिषद् (१/१/१०) का जो प्रमाण दिया है 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादि जो सब विद्याओं से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि एक देशीय है। उसका सम्बन्ध केवल उद्गीथ विद्या से ही है जिसे वह कर्मों का अंग बताती है। अन्य समस्त विद्याओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह सिद्ध नहीं होता कि विद्या मात्र कर्म का अंग है।

सूत्र ११ : 'विभागः शतवत्।'

भावार्थ : एक सौ मुद्रा के विभाग की भाँति इस श्रुति में कहा हुआ विद्या कर्म का विभाग अधिकारी भेद से समझना चाहिए।

व्याख्या—जिस प्रकार सौ रुपये का वितरण करने पर अधिकारी भेद के अनुसार सबको भिन्न-भिन्न संख्या में मुद्राएँ मिलती हैं उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी के कर्म तो यहीं नष्ट हो जाते हैं। उसके साथ कर्म नहीं जाते किन्तु जो सांसारिक मनुष्य हैं या साधन भ्रष्ट हैं, उनके साथ विद्या और कर्म दोनों ही संस्कार जाते हैं। यहाँ विद्या का अर्थ परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान नहीं बल्कि श्रवण मनन आदि का अभ्यास है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का अंग नहीं है।

सूत्र १२ : 'अध्ययनमात्रावत: ।'

भावार्थ : जिसने विद्या का केवल अध्ययन मात्र किया है, अनुष्ठान नहीं, ऐसे विद्वान के विषय में यह कथन है ।

व्याख्या—छठे सूत्र में जो आचरण सम्बन्धी बात कही गई है वह गुरुकुल में अध्ययन करके निकलने वाले ब्रह्मचारी के लिए है जिसने विद्या का अध्ययन मात्र किया है, उसका अनुष्ठान नहीं किया । ऐसे विद्वानों के लिए जो कर्म का विधान किया गया है वह अन्त:करण की शुद्धि के लिए है जो सर्वथा उचित है । किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विद्या कर्मों का अंग है ।

सूत्र १३ : 'नाविशेषात् ।'

भावार्थ : वह श्रुति विशेष रूप से विद्वान के लिए नहीं कही गई है, इसलिए ज्ञान के साथ उसका समुच्चय नहीं है ।

व्याख्या—सूत्र ७ में जो त्याग पूर्वक आजीवन कर्म करने के लिए ईशावास्योपनिषद् (२) के अनुसार कहा गया है वह सभी साधकों के लिए समान रूप से है, ज्ञानी के लिए विशेष रूप से नहीं है । इसलिए इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्मविद्या कर्मों का अंग है ।

सूत्र १४ : 'स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।'

भावार्थ : अथवा यों समझो कि विद्या की स्तुति के लिए सम्मति मात्र है ।

व्याख्या—यदि इस श्रुति को समान भाव से ज्ञानी के लिए

ही माना जाय तो इसका यह भाव समझना चाहिए कि ज्ञानी लोक कल्याण हेतु आजीवन कर्म करता रहे तो भी ज्ञानी होने से उसमें कर्म लिप्त नहीं होते। वह कर्म की सम्मति मात्र देती है, वाध्य नहीं करती। इसलिए यह श्रुति विद्या को कर्मों का अंग वताने के लिए नहीं है।

सूत्र १५ : 'कामकारेण चैके।'

भावार्थ : इसके सिवा कई एक विद्वान स्वेच्छापूर्वक कर्मों का त्याग कर देते हैं। इसलिए भी विद्या कर्मों का अंग नहीं है।

व्याख्या—ईशावास्य उपनिषद् (२) में जो कहा गया है कि आजीवन कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। यदि इसे ज्ञानियों के लिए भी मान लिया जाय तो वृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२२) के अनुसार कई ज्ञानियों का स्वेच्छापूर्वक गृहस्थ-आश्रय एवं कर्मों का त्याग बतलाया गया है, इसमें विरोध आता है। इसलिए यही मानना उचित है कि ज्ञानी आजीवन कर्म करता रहे अथवा उसका त्याग कर दे, यह उसकी स्वतन्त्रता है। इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि विद्या कर्मों का अंग है।

सूत्र १६ : 'उपमर्दं च।'

भावार्थ : इसके सिवा ब्रह्म विद्या से कर्मों का सर्वथा नाश हो जाना कहा है। इससे भी पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—गीता(४/३७), तथा मुण्डक उपनिषद् (२/२/८) में कहा गया है कि 'परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।' इस प्रकार ज्ञान का फल कर्मों का नाश

होना बताया गया है इसलिए ब्रह्मविद्या को कर्म का अंग नहीं माना जा सकता तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म विद्या से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती।

सूत्र १७ : 'ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि।'

भावार्थ : जिनमें वीर्य को सुरक्षित रखने का विधान है ऐसे तीन आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का अधिकार है। क्योंकि वेद में ऐसा कहा है। इसलिए ब्रह्मविद्या कर्मों का अंग नहीं है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (१/२/११) के अनुसार वानप्रस्थ, गृहस्थ, ब्रह्मचारी, संन्यासी जो तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे अविनाशी पद को प्राप्त होते हैं। इसके अनुसार गृहस्थ के अलावा तीनों आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान का अधिकार है। प्रश्नोपनिषद् (१/१०) में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्मों का अंग नहीं है क्योंकि संन्यासी के लिए वैदिक यज्ञादि कर्मों का विधान नहीं है और इनका ब्रह्मविद्या में अधिकार है। यदि ब्रह्मविद्या को कर्मों का अंग मान लिया जाय तो संन्यासी के द्वारा उसका अनुष्ठान कैसे संभव है।

सूत्र १८ : 'परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि।'

भावार्थ : आचार्य जैमिनि उक्त श्रुति में संन्यास-आश्रम का अनुवाद मात्र मानते हैं, विधि नहीं। क्योंकि उसमें विधि सूचक क्रिया पद का प्रयोग नहीं है। इसके सिवा श्रुति संन्यास का अपवाद (निषेध) करती है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि का कथन है कि संन्यास आश्रम पालने करने योग्य नहीं है। गृहस्थाश्रम में रहकर कर्मानुष्ठान करते हुए ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ सिद्ध हो सकता है। पूर्वोक्त श्रुति (मुण्डक उपनिषद् १/२/११) में एक शब्द आया है 'भैक्ष्यचर्याम् चरन्त' (भिक्षा के लिए विचरने वाले) तथा 'अरण्ये शान्ता:' (वन में रहने वाले शान्त स्वभाव वाले) से संन्यास का अनुवाद मात्र ही हुआ है। स्पष्ट रूप से संन्यास का उल्लेख नहीं हुआ है। इसके सिवा तै० सं० (१/५/२/१) में कहा गया है कि, 'जो अग्निहोत्र का त्याग करता है, वह देवों के वीरों को मारने वाला है।' इनसे यही सिद्ध होता है कि संन्यास आश्रम आचरण में लाने योग्य नहीं है। इसलिए संन्यासी का ब्रह्मविद्या में अधिकार बताकर यह कहना कि 'विद्या कर्म का अंग नहीं है' ठीक नहीं है।

सूत्र १९ : 'अनुष्ठेयं बादरायण: साम्यश्रुते:।'

भावार्थ : व्यासदेव कहते हैं कि गृहस्थ की भाँति अन्य आश्रमों के धर्मों का अनुष्ठान भी कर्तव्य है। क्योंकि श्रुति में समस्त आश्रमों की और उनके धर्मों की कर्तव्यता का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—जैमिनि के उक्त कथन का खण्डन करते हुए व्यास जी कहते हैं कि उक्त श्रुति में चारों आश्रमों का अनुवाद है तथा चारों आश्रमों में विभिन्न धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए। गृहस्थ और वानप्रस्थ में अग्निहोत्र का त्याग नहीं करना चाहिए किन्तु विरक्त के लिए तत्काल संन्यास लेने का विधान श्रुति में स्पष्ट देखा जाता है। अत: संन्यासी का भी

ब्रह्मविद्या में अधिकार होने के कारण विद्या को कर्म का अंग न मानना ही ठीक है।

सूत्र २० : 'विधिर्वा धारणवत् ।'

भावार्थ : अथवा उक्त मन्त्र में अन्य आश्रमों की विधि ही माननी चाहिए, अनुवाद नहीं, जैसे समिधा धारण सम्बन्धी वाक्य में 'ऊपर धारण' की क्रिया को अनुवाद न मानकर विधि ही माना गया है।

व्याख्या—कर्म त्याग का निषेध करने वाली जो श्रुति है, वह कर्मासक्त मनुष्यों के लिए ही है, विरक्त के लिए नहीं है। संन्यास आश्रमों के क्रम से तथा वैराग्य होने पर किसी भी आश्रम से लिया जा सकता है। यह विधि मात्र है। अतः यह सिद्ध होता है कि कर्मों के बिना केवल ज्ञान से ही ब्रह्म प्राप्ति के परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

सूत्र २१ : 'स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।'

भावार्थ : यदि कहो उद्‌गीथ आदि उपासनाओं में जो उनकी महिमा के सूचक वचन हैं, उनमें कर्मों के अंगभूत उद्‌गीथ आदि को लेकर वैसा वर्णन किया गया है, इसलिए वह सब केवल उनकी स्तुति मात्र है, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वे उपासनाएँ और उनके रसतमत्व आदि गुण अपूर्व हैं।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (१/१/३) में जो उद्‌गीथ के विषय में वर्णन है वह केवल स्तुति मात्र है इसी प्रकार सभी कर्माङ्ग भूत उपासनाओं में जिन-जिन विशेष गुणों का वर्णन

है वह सब उस-उस अंग की स्तुति मात्र है। इसलिए विद्या को कर्म का अंग मानना ठीक नहीं है।

सूत्र २२ : 'भाव शब्दाच्च।'

भावार्थ : इसके सिवा उस प्रकरण में इस प्रकार उपासना करनी चाहिए इत्यादि विधि वाचक शब्दों का स्पष्ट प्रयोग होने के कारण भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् में जो उद्गीथ की उपासना, साम की उपासना करने का जो वर्णन है वह विधि के लिए ही है तथा उनका अपूर्व फल भी बतलाया गया है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि यह उपासना के विधान के लिए ही है। इसलिए यह कर्म का अंग नहीं है।

सूत्र २३ : 'पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्।'

भावार्थ : यदि कहो उपनिषदों में वर्णित आख्यायिकाएँ पारिप्लव नामक कर्म के लिए है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पारिप्लव कर्म में कुछ ही आख्यायिकाओं को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है।

व्याख्या—उपनिषदों में जो यम और नाचिकेता, देवता और यक्ष, मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य आदि की कथाएँ आती हैं किन्तु ये सभी कथाएँ पारिप्लव कर्म के लिए नहीं हैं। इनमें से विशेष आख्यानों को ही सुनने योग्य कहा गया है। उपनिषदों में कही गई सभी कथाएँ इसमें नहीं आतीं, अत: वे कर्म की अंगभूत नहीं है। ये ब्रह्मविद्या को भली-भाँति समझाने के लिए ही है।

सूत्र २४ : 'तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ।'

भावार्थ : इस प्रकार उन आख्यायिकाओं को परिप्लस्वार्थक न मानकर विद्या का ही अंग मानना चाहिए, क्योंकि उन उपाख्यानों की वहाँ कही हुई विद्याओं के साथ एक वाक्यता देखी जाती है ।

व्याख्या—श्रुतियों में जो आख्यायिकाएँ दी गई हैं वे उनमें कही हुई विद्याओं का ही अंग है। विद्याओं में रुचि उत्पन्न करने तथा परब्रह्म के स्वरूप का तत्व सरलता से समझाने के लिए ही इन कथाओं का उपयोग किया गया है। इसलिए ये कर्म का अंग न होकर ब्रह्मविद्या का ही अंग है। यही मानना उचित है।

सूत्र २५ : 'अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।'

भावार्थ : तथा इसलिए इस ब्रह्मविद्या रूप यज्ञ में अग्नि, समिधा, घृत आदि पदार्थों की आवश्यकता नहीं है ।

व्याख्या—यह ब्रह्मविद्या कर्मों का अंग नहीं है। इसलिए इसकी फल प्राप्ति में जो यज्ञ किया जाता है उसमें ब्रह्म चिंतन ही प्रधान है। अन्य यज्ञ की भाँति इसमें समिधा, अग्नि तथा घृत आदि की आवश्यकता नहीं है। गीता (४/२४) में भी कहा है, 'उस ब्रह्म चिन्तन रूप यज्ञ में भिन्न-भिन्न उपकरण और सामग्री आवश्यक नहीं होती, किन्तु इसमें तो स्रुवा भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, और ब्रह्म रूप अग्नि में और ब्रह्म रूप होता द्वारा ब्रह्म रूप हवन क्रिया की जाती है, उस ब्रह्म चिंतन रूप कर्म में समाहित हुए साधना द्वारा जो प्राप्त किया जाने

वाला फल है, वह भी ब्रह्म ही है।' इसलिए ब्रह्मविद्या सर्वथा स्वतन्त्र है। यह कर्मों का अंग नहीं हो सकती।

सूत्र २६ : 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्।'

भावार्थ : इसके सिवा विद्या की उत्पत्ति के लिए समस्त वर्णाश्रमोचित कर्मों की आवश्यकता है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों को ब्रह्मविद्या में हेतु बताने वाली श्रुति है जैसे घोड़ा योग्यतानुसार सवारी के काम में ही लिया जाता है, प्रासाद पर चढ़ने के काम में नहीं। उसी प्रकार कर्म विद्या की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित है, मोक्ष के लिए नहीं।

व्याख्या—इस सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिए यज्ञादि कर्म अत्यन्त आवश्यक हैं किन्तु परमात्मा की प्राप्ति, परब्रह्म के साक्षात्कार में उनकी अपेक्षा नहीं है। इसकी सिद्धि ब्रह्मविद्या से ही होती है। इसके लिए अश्व का दृष्टांत दिया गया है कि अश्व पर चढ़कर प्रासाद तक जाया जा सकता है, उस पर चढ़ा नहीं जा सकता। उसी प्रकार सभी आश्रमों में शास्त्र विहित कर्म अवश्य करने चाहिए। ये कर्म ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं किन्तु इनसे ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता।

सूत्र २७ : 'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।'

भावार्थ : अन्य कर्म आवश्यक न होने पर भी साधक को शम, दम, तितिक्षा आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि उस ब्रह्मविद्या के अंग रूप से

उन शमदमादि का विधान होने के कारण उनका अनुष्ठान अवश्य कर्तव्य है ।

व्याख्या – ऊपर जैसा बताया गया है कि सभी आश्रमों में यज्ञादि कर्म आवश्यक नहीं हैं किन्तु परमात्मा को तत्व से जानने की इच्छा रखने वाले हर आश्रम के साधक के लिए शम, (अन्तःकरण का संयम), दम (इंद्रियों का संयम), उपरति, तितिक्षा, तथा ध्यानाभ्यास तो आवश्यक ही है। इनका ब्रह्मविद्या के अंग रूप से विधान है। इनका अनुष्ठान तो अवश्य कर्तव्य है जो सभी आश्रम के साधकों के लिए है। इनके बिना ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता ।

सूत्र २८ : 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।'

भावार्थ : सब प्रकार के अन्न को भक्षण करने की अनुमति तो अन्न बिना प्राण न रहने की संभावना होने पर ही है, सदा नहीं, क्योंकि श्रुति में वैसा ही आचार देखा जाता है ।

व्याख्या – छान्दोग्य उपनिषद् (१/१०/१-७) में एक कथन है जिससे यह सिद्ध होता है कि जिस समय अन्न के बिना मनुष्य जीवन धारण करने में असमर्थ हो जाय तथा प्राण बचने की संभावना ही न रहे ऐसी परिस्थिति में ही अपवित्र या उच्छिष्ठ अन्न भक्षण करने की शास्त्र में अनुमति है। साधारण अवस्था में उसे आचार एवं आहार की पवित्रता के संरक्षण सम्बन्धी नियम का पालन करना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् (५/२/१) तथा वृह० उप० (६/१/१४) में जो कहा गया है कि 'प्राण विद्या के रहस्य को जानने वाले के लिए कोई अन्न अभक्ष्य नहीं होता।' इसी का स्पष्टीकरण ऊपर दिया गया है।

सूत्र २६ : 'अबाधाच्च ।'

भावार्थ : अन्य श्रुति का बाध नहीं होना चाहिए, इस कारण से भी यही सिद्ध होता है कि आपात्काल के सिवा अन्य परिस्थिति में आचार का त्याग नहीं करना चाहिए ।

व्याख्या – छान्दोग्य उपनिषद् (७/२६/२) में कहा है कि 'आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है ।' इस प्रकार श्रुति में भक्ष्याभक्ष्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया है । इस कारण से आपत्ति काल के सिवा, साधारण अवस्था में आचार का त्याग नहीं करना चाहिए ।

सूत्र ३० : 'अपि च स्मर्यते ।'

भावार्थ : इसके सिवा स्मृति भी इसी बात का समर्थन करती है ।

व्याख्या—मनुस्मृति (१०/१०४) में कहा गया है, 'जो मनुष्य प्राण संकट में पड़ने पर जहाँ कहीं से भी अन्न लेकर खा लेता है वह उसी प्रकार पाप से लिप्त नहीं होता जैसे कीचड़ से आकाश ।' इस प्रकार स्मृति-वचन से भी यही सिद्ध होता है कि प्राण संकट में पड़ने की परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना आहार शुद्धि सम्बन्धी सदाचार का परित्याग नहीं करना चाहिए ।

सूत्र ३१ : 'शब्दश्चातोऽकामकारे ।'

भावार्थ : इच्छानुसार अभक्ष्य भोजन के निषेध में श्रुति प्रमाण भी है । इसलिए प्राण संकट की स्थिति

आये बिना निषिद्ध अन्न जल का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

व्याख्या - छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/६) में कहा गया है सुवर्ण चुराने वाला, शराबी, गुरुपत्नि गामी तथा ब्रह्म-हत्यारा ये चारों पतित होते हैं।' और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग रखने वाला भी पतित होता है। इसमें सुरा को अभक्ष्य बताया गया है। इस प्रकार अभक्ष्य का श्रुति में निषेध किया गया है। जब तक प्राणों पर संकट न आ जाय तब तक ज्ञानी को भी अभक्ष्य का भक्षण नहीं करना चाहिए।

सूत्र ३२ : 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।'

भावार्थ : तथा शास्त्र विहित होने के कारण आश्रम सम्बन्धी कर्मों का भी अनुष्ठान करना चाहिए।

व्याख्या— इस सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञानी को कौन से कर्म करने चाहिए ? वृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२२) में कहा गया है कि 'ज्ञानी को शरीर स्थिति के लिए उपयोगी भोजनादि कर्म तथा ब्रह्म विद्योपयोगी शम, दमादि कर्म लोक संग्रह के लिए कर्तव्य है। उसी प्रकार जिस आश्रम में वह रहता हो, उस आश्रम के कर्म भी उसके लिए विहित हैं।' इसलिए इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए। गीता (३/२५) में भी कहा गया है कि 'जैसे अज्ञानी मनुष्य कर्मों में आसक्त होकर उनका अनुष्ठान करता है वैसे ही ज्ञानी भी लोक संग्रह के लिए बिना आसक्ति के उनका अनुष्ठान करे।

सूत्र ३३ : 'सहकारित्वेन च।'

भावार्थ : साधन में सहायक होने के कारण भी उनका अनुष्ठान लोक संग्रह के लिए करना चाहिए।

व्याख्या—जिस प्रकार शम, दम, तितिक्षा आदि कर्म परमात्मा की प्राप्ति में सहायक हैं, उसी प्रकार निष्काम भाव से किये जाने वाले शास्त्र विहित आश्रम सम्बन्धी आचार, व्यवहार आदि भी सहायक हैं। इसलिए उनका अनुष्ठान भी लोक संग्रह के लिए अवश्य करना चाहिए।

सूत्र ३४ : 'सर्वथापि त एवोभयलिंगात्।'

भावार्थ : किसी प्रकार से कठिनता प्राप्त होने पर भी वे भक्ति सम्बन्धी कर्म या भागवत धर्म तो सब प्रकार से ही आचरण में लाने योग्य है। क्योंकि श्रुति और स्मृति दोनों के निश्चयात्मक वर्णन रूप लिंग (लक्षण) से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुति और स्मृ = शास्त्रों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि आपत्ति काल में किसी कारण वश वर्ण, आश्रम और शरीर निर्वाह सम्बन्धी अन्य कर्मों का पालन पूर्णतया न हो सके तो भी भगवत् उपासना सम्बन्धी श्रवण, कीर्तन आदि मुख्य धर्मों का अनुष्ठान तो किसी भी प्रकार से अवश्य करना चाहिए। इनमें शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए।

सूत्र ३५ : 'अनभिभवं च दर्शयति।'

भावार्थ : श्रुति इनका अनुष्ठान करने वाले का पापों से अभिभूत न होना भी दिखलाती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

व्याख्या–श्रुति में कहा गया है कि भगवान का भजन स्मरण करने वाले को पाप नहीं दबा सकते। इससे यही सिद्ध

होता है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए बताये गये उपासना विषयक श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि धर्म हैं, उनका अनुष्ठान तो प्रत्येक परिस्थिति में करते ही रहना चाहिए।

सूत्र ३६ : 'अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।'

भावार्थ : इसके सिवा आश्रम धर्मों के अभाव में भी केवल उपासना विषयक अनुष्ठान से परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि श्रुति में ऐसा विधान देखा जाता है।

व्याख्या—श्वेताश्वतर उपनिषद् (१/१४) में कहा गया है कि, 'अपने शरीर को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहने से साधक छिपी हुई अग्नि की भाँति हृदय में स्थित परमदेव परमेश्वर को देखे।' इसके सिवा इसी उपनिषद् में बताया गया है कि परमात्मा की शरण ग्रहण करने से समस्त संचित्त कर्म साधन में विघ्न कारक नहीं होंगे तथा इसका फल परमात्मा का साक्षात्कार बताया गया है। इस प्रकार उपासना से ही परमात्मा की प्राप्ति बताई गई है। (श्वेता० उप० २/१-५, २/७, २/१४/५ तथा ४/१७ व ६/२३)

सूत्र ३७ : 'अपि च स्मर्यते।'

भावार्थ : इसके सिवा स्मृतियों में भी यही बात कही गई है।

व्याख्या—अन्य विद्याओं में आश्रम एवं पात्रता आदि की मर्यादाएँ श्रुतियों एवं स्मृतियों में बताई गई हैं किन्तु उपासना ऐसी विधि है जो सभी आश्रमों में की जा सकती है। जैसे गीता

(६/३२) में कहा गया है कि जो वर्णाश्रमोचित कर्म के अधिकारी नहीं हैं ऐसे पाप योनि, चाण्डाल आदि को भी भगवान की शरणागति से परमगति की प्राप्ति बतलाई गई है। उसमें कहा है, 'मेरी प्राप्ति में वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, दान तथा नाना प्रकार की क्रिया और उग्र तप हेतु नहीं है। केवल मात्र अनन्य भक्ति से ही मैं जाना, देखा और प्राप्त किया जा सकता हूँ।' इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (२/४/१८) में भी कहा गया है, 'किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि जितने भी पाप योनि के मनुष्य हैं, वे सब जिनकी शरण लेने से शुद्ध हो परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, उन सर्व समर्थ भगवान को नमस्कार है।' इससे यही सिद्ध होता है कि उपासना का अनुष्ठान ही परम आवश्यक है।

सूत्र ३८ : **'विशेषानुग्रहश्च।'**

भावार्थ : इसके सिवा भगवान की भक्ति सम्बन्धी धर्मों का पालन करने से भगवान का विशेष अनुग्रह होता है।

व्याख्या—जो अन्य प्रकार के धर्म-कर्म आदि का आश्रय न लेकर अनन्य भाव से केवल भगवान की भक्ति का अनुष्ठान करता है उसको भगवान की विशेष कृपा होती है। श्रीमद्भागवत (७/५/२३) में नवधा भक्ति का वर्णन है। इसमें यह भी कहा है कि, 'मैं सदा भक्तों के अधीन रहता हूँ।(६/४/६३) गीता में भी स्थान-२ पर कहा है, 'उन भक्तों के लिए मैं सुलभ हूँ।' इस प्रकार भक्ति का सर्वत्र महत्व बतलाया गया है।

सूत्र ३९ : **'अतस्त्वितरज्यायो लिंगाच्च।'**

भावार्थ : ऊपर बताये हुए उन सभी कारणों से यह सिद्ध

हुआ कि अन्य सब धर्मों की अपेक्षा भगवान की भक्ति विषयक धर्म अधिक श्रेष्ठ हैं। इसके सिवा लक्षणों से (स्मृति प्रमाण) से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्री मद्भागवत (७/९/१०) में कहा गया है, 'बारह प्रकार के गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान पद्म-नाभ के चरण कमल से विमुख है तो उसकी अपेक्षा उस चाण्डाल को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसके मन, धन, वचन, कर्म और प्राण परमात्मा को अर्पित हैं, क्योंकि वह भक्त चाण्डाल अपनी भक्ति के प्रताप से सारे कुल को पवित्र कर सकता है, परन्तु वह बहुत मन वाला ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता।' इसके साथ ही (३/३३/७) कहा गया है कि, 'अहो! आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वा पर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है।' इस प्रकार भगवत् भक्ति को सबसे श्रेष्ठ बतलाया गया है।

सूत्र ४० : 'तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रुपा-भावेभ्यः।'

भावार्थ : उच्च आश्रम में स्थित मनुष्य का तो उसे छोड़-कर पूर्व आश्रम में लौट आना नहीं बन सकता, क्योंकि शास्त्रों में पीछे न लौटने का ही नियम है। श्रुति में आश्रम बदलने का जो क्रम कहा गया है, उससे यह विपरीत है और इस प्रकार का शिष्टाचार भी नहीं है। जैमिनि ऋषि की भी यही सम्मति है।

व्याख्या—जाबाल० उप० (४) में आश्रम बदलने का क्रम

इस प्रकार दिया है, 'ब्रह्मचर्य को पूरा करके गृहस्थ होवे, गृहस्थ से वानप्रस्थ हो और वानप्रस्थ से संन्यास ले अथवा दूसरे प्रकार से यानि ब्रह्मचर्य से, या गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से ही संन्यास ले।' पीछे लौटना इस क्रम से विपरीत है अर्थात संन्यास से अथवा वानप्रस्थ से गृहस्थाश्रम में लौटने का निषेध है तथा ऊँचे आश्रम में जाकर पुनः नीचे लौटना शिष्टाचार भी नहीं है। जैमिनि ऋषि की भी यही सम्मति है।

सूत्र ४१ : 'न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्।'

भावार्थ : इसके सिवा प्रायश्चित के अधिकारी अन्य आश्रम वालों के लिए जो प्रायश्चित बताया गया है वह भी उसके लिए विहित नहीं है, क्योंकि स्मृति में उसका महान् पतन माना गया है। इसलिए यह प्रायश्चित के उपयुक्त नहीं रहा।

व्याख्या—ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ आश्रम में रहते हुए यदि नियम भंग हो जाय तो स्मृतियों में उनके प्रायश्चित का विधान है तथा वे प्रायश्चित के अधिकारी हैं किन्तु जिन्होंने वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम स्वीकार कर लिया है वे यदि पुनः गृहस्थाश्रम में लौटकर स्त्री संगादि में प्रवृत्त होते हैं तो वे पतित हो जाते हैं। उनके लिए शास्त्रों में प्रायश्चित का कोई विधान नहीं है। वे प्रायश्चित के अधिकारी भी नहीं हैं।
जैमिनि आचार्य भी यही मानते हैं।

सूत्र ४२ : 'उपपूर्वमपित्वेके भावमशनवत्तदुक्तम्।'

भावार्थ : कई बार आचार्य तो इसे उपपातक भी मानते हैं, इसलिए वे भोजन के नियम भंग के प्रायश्चित की भाँति इसके लिए भी प्रायश्चित का भाव

मानते हैं, यह बात शास्त्र में कही है, यह भी उनका कथन है।

व्याख्या—कई एक आचार्यों का मानना है कि जिस प्रकार ब्रह्मचारी आदि के व्रत भंग होने पर प्रायश्चित का विधान शास्त्रों में है वैसे ही वानप्रस्थी और संन्यासी के लिए भी प्राय-श्चित का विधान है क्योंकि वे महापातक नहीं बल्कि उपपातक हैं तथा उपपातक के लिए शास्त्रों में प्रायश्चित का विधान है।

सूत्र ४३ : 'बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च।'

भावार्थ : किन्तु दोनों प्रकार से ही वह अधिकार से बहि-ष्कृत हैं, क्योंकि स्मृति प्रमाण से और शिष्टाचार से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—स्मृति प्रमाण तथा शिष्टों के आचार व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि उच्च आश्रम से पतित हुए संन्यासी और वानप्रस्थी लोग शिष्ट सम्प्रदाय और वैदिक ब्रह्मविद्या के अधिकार से सर्वथा बहिष्कृत हैं। भोगों की आसक्ति से ही उनका पतन होता है अतः वे ब्रह्म विद्या के अधिकारी नहीं हैं। श्रेष्ठ पुरुष उनके साथ यज्ञ, स्वाध्याय और विवाह आदि सम्बन्ध भी नहीं करते हैं।

सूत्र ४४ : 'स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः।'

भावार्थ : उस उपासना में यजमान का ही कर्तापन है, ऐसा आत्रेय मानते हैं क्योंकि श्रुति में यजमान के लिए ही फल का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—जिन श्रुतियों में यज्ञ के फल का वर्णन है उनसे यही सिद्ध होता है कि यज्ञ के स्वामी को ही उसका फल मिलता

है । अतः कामना युक्त उपासनाओं का कर्तापन भी यजमान का ही होना उचित है ।

सूत्र ४५ : 'आर्त्विज्यमित्यौडुलौमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।'

भावार्थ : कर्तापन ऋत्विक का है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं, क्योंकि उस कर्म के लिए वह ऋत्विक यजमान द्वारा धन दानादि से वरण कर लिया जाता है ।

व्याख्या—आचार्य औडुलोमि का मानना है कि कर्तापन तो ऋत्विक का ही है किन्तु फल यजमान को ही मिलता है क्योंकि वह ऋत्विक उस कर्म के लिए यजमान के द्वारा धन दानादि से वरण कर लिया जाता है अतः वह दाता द्वारा दी हुई दक्षिणा का ही अधिकारी है, उसका फल में अधिकार नहीं है ।

सूत्र ४६ : 'श्रुतेश्च ।'

भावार्थ : श्रुति प्रमाण से भी औडुलोमि का मत उचित सिद्ध होता है ।

व्याख्या—यज्ञ का ऋत्विक जो कुछ भी कामना करता है, वह निःसंदेह यजमान के लिए ही करता है । इसलिए कर्म का कर्तापन ऋत्विक का और फल में अधिकार यजमान का सिद्ध होता है । ऐसा श्रुति प्रमाण है ।

सूत्र ४७ : 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।'

भावार्थ : ब्रह्मविद्या सम्बन्धी साधन युक्त साधक के लिए बालकपन और पाण्डित्य के साथ कहा हुआ जो

तीसरा मौन साधन है, वह विधेय है, क्योंकि उसका दूसरा सहकारी साधन के रूप में विधान है। दूसरे स्थल में कहे हुए विधि वाक्यों की भाँति एक पक्ष को लेकर यह भी विधि है।

व्याख्या—इस प्रकरण का भाव यह है कि दंभ, मान आदि विकारों का अभाव बाल्यकाल है, मनन शीलता मौन है, ब्रह्म का शास्त्रीय ज्ञान पाण्डित्य है। इस प्रकार उक्त विकारों का अभाव, निरन्तर मनन एवं निदिध्यासन इन तीनों की परिपक्व अवस्था होने से ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है।

सूत्र ४८ : 'कृत्स्नभावात्तु गृहीणापसंहारः।'

भावार्थ : गृहस्थ आश्रम में संपूर्ण आश्रमों का भाव है, इसलिए ही उस प्रकरण में गृहस्थ आश्रम के साथ ब्रह्मविद्या के प्रकरण का उपसंहार किया गया है।

व्याख्या—पूर्व प्रकरण में संन्यास आश्रम पर ही विचार किया गया है किन्तु इस प्रकरण में बताया गया है कि गृहस्थ आश्रम में चारों आश्रमों का भाव है तथा ब्रह्म विद्या का अधिकार सभी आश्रमों में है ऐसा श्रुति कहती है। इसमें ब्रह्मविद्या का निषेध नहीं किया गया है किन्तु संन्यास आश्रम से अधिक सुविधा होने से सुगमता की दृष्टि से पूर्व में वैसा कहा गया है।

सूत्र ४९ : 'मौनवदितरेषामप्युपदेशात्।'

भावार्थ : अन्य आश्रम वालों के लिए भी मनन शीलता की भाँति विद्योपयोगी सभी साधनों का उपदेश होने के कारण सभी आश्रमों में ब्रह्मविद्या का अधिकार सिद्ध होता है।

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व प्रकरण में मननशीलता (मौन) रूप साधन का सबके लिए विधान बताया गया है उसी प्रकार श्रुति में अन्य आश्रम वालों के लिए भी विद्योपयोगी सभी साधनों का उपदेश दिया गया है जैसे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, मुमुक्षु आदि। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म विद्या का अधिकार सभी आश्रमों में है।

सूत्र ५० : 'अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्।'

भावार्थ : अपने गुणों को प्रकट न करता हुआ बालक की भाँति दंभ और अभिमान से रहित होवे, क्योंकि ऐसे भावों का ही ब्रह्म विद्या से सम्बन्ध है।

व्याख्या—ब्रह्म विद्या का साधक बालक की भाँति दंभ, अभिमान, राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि से रहित होकर अपने गुणों का प्रदर्शन न करता हुआ ही ब्रह्म विद्या की साधना करे। क्योंकि इनका ब्रह्म विद्या से सम्बन्ध है।

सूत्र ५१ : 'ऐहिकमप्यप्रस्तुत प्रतिबन्धेतद्दर्शनात्।'

भावार्थ : किसी प्रकार का प्रतिबन्ध उपस्थित न होने पर इसी जन्म में वह फल प्राप्त हो सकता है। प्रतिबन्ध होने पर जन्मान्तर से भी हो सकता है क्योंकि यही बात श्रुतियों और स्मृतियों में देखी जाती है।

व्याख्या—श्रुतियों तथा स्मृतियों जैसे गीता आदि में कहा गया है कि इस जन्म में किया गया प्रयत्न अगले जन्म में काम आता है। कोई भी साधन व्यर्थ नहीं जाता। अतः यदि कोई विघ्न उपस्थित न हो तो इसी जन्म में मुक्ति रूप फल की

प्राप्ति हो जाती है अन्यथा वह फल जन्मान्तर में मिलता है। किया हुआ अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता।

सूत्र ५२ : 'एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः।'

भावार्थ : इसी तरह किसी एक लोक में ही मुक्ति रूप फल प्राप्त होने का नियम नहीं है, क्योंकि उसकी अवस्था निश्चित की गई है।

व्याख्या— ब्रह्म विद्या से मिलने वाले मुक्ति रूप फल के विषय में जिस प्रकार यह नियम नहीं है कि वह इसी जन्म में मिले या जन्मान्तर में। उसी प्रकार उसके विषय में यह भी नियम नहीं है कि वह इस लोक में मिलता है या ब्रह्मलोक में। जब साधक के हृदय से समस्त कामनाओं का अभाव हो जाता है तब वह साधक अमृत हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ऐसा कठोपनिषद् (२/३/१४) में कहा गया है। यदि ऐसी अवस्था यहाँ नहीं बनी तो इसका फल ब्रह्मलोक में मिलता है।

।। चौथा पाद सम्पूर्ण ।।

।। तीसरा अध्याय सम्पूर्ण ।।

चौथा अध्याय (फलाध्याय)

पहला पाद

सूत्र १ :'आवृतिरसकृदुपदेशात् ।'

भावार्थ : अध्ययन की हुई उपासना का आवर्तन (बार-बार अभ्यास) करना चाहिए, क्योंकि श्रुति में बार-बार इसके लिए उपदेश किया गया है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/१/८) में कहा गया है, विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक उस अवयव रहित परमेश्वर को निरन्तर ध्यान करता हुआ ज्ञान की निर्मलता से देखता है।' इसी उपनिषद् (३/२/१) में कहा है, 'जो कामना रहित साधक उस परमपुरुष की उपासना करते हैं वे इस रजोवीर्यमय शरीर को अतिक्रमण कर जाते हैं। इस प्रकार जगह-जगह ब्रह्मविद्या रूप उपासना का अभ्यास करने के लिए बार-बार उपदेश दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या का अध्ययन करके उस पर बार-बार विचार करते हुए उस परमात्मा में संलग्न होना चाहिए।

सूत्र २ : 'लिंगाच्च।'

भावार्थ : स्मृति के वर्णन रूप लिंग (प्रमाण) से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या - गीता में बार-बार परमात्म चिन्तन की बात कही गई है जिससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। जैसे—सब काल में मेरा स्मरण कर' (गीता ८/७), बार-बार चिन्तन करता हुआ साधक परम पुरुष को प्राप्त होता है' (गीता ८/८) 'जो मेरा अनन्य भक्त मुझे नित्य निरन्तर स्मरण करता है उस नित्य युक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ।' आदि।

सूत्र ३ : 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।'

भावार्थ : वह मेरा आत्मा है, इस भाव से ही ज्ञानीजन उसे जानते या प्राप्त करते हैं और ऐसा ही ग्रहण कराते या समझाते हैं।

व्याख्या —श्रुतियों तथा स्मृतियों में बार-बार यही कहा एवं समझाया गया है कि, 'यह आत्मा ब्रह्म है, सबका अन्तर्यामी यह तेरा आत्मा है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।' इस प्रकार उस परब्रह्म परमात्मा को अपना अन्तर्यामी आत्मा मानकर उपासना करने का विधान आता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह परमेश्वर को अपना अन्तर्यामी आत्मा समझ कर उसी भाव से उसकी उपासना करे।

सूत्र ४ : 'न प्रतीके न हि सः।'

भावार्थ : प्रतीक में आत्मभाव नहीं करना चाहिए क्योंकि वह उपासक का आत्मा नहीं है।

व्याख्या —श्रुतियों में प्रतीक की उपासना का भी महत्व बताया गया है किन्तु प्रतीक में आत्मभाव नहीं करना चाहिए क्योंकि वह उपासक का अन्तरात्मा नहीं है किन्तु प्रतीक में

जिसकी उपासना की जा रही है वह सबका आत्मा है। जैसे 'मन ही ब्रह्म है, आकाश ही ब्रह्म है, आदित्य ब्रह्म है।' आदि प्रतीक रूप हैं जिनकी उपासना करने का विधान है। मूर्ति आदि में भी भगवान की भावना करके उपासना की जाती है। इसमें प्रतीकों के माध्यम से भगवान की ही उपासना की जाती है किन्तु इन प्रतीकों को अन्तरात्मा नहीं माना जा सकता।

सूत्र ५ : 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्।'

भावार्थ : ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए प्रतीक में ब्रह्म दृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि निकृष्ट वस्तु में ही उत्कृष्ट की भावना की जाती है।

व्याख्या—जो साधक उस परब्रह्म परमात्मा के तत्व को नहीं समझ सकता,उसके लिए प्रतीकोपासना का विधान किया गया है। इसलिए इन्द्रियों के अनुभव में आने वाले प्राण, मन, सूर्य, चन्द्रमा आदि किसी को भी ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसमें ब्रह्म की भावना करके उपासना करे, क्योंकि परब्रह्म परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ है। निकृष्ट में ही श्रेष्ठ की भावना की जाती है, श्रेष्ठ में निकृष्ट की नहीं।

सूत्र ६ : 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः।'

भावार्थ : तथा कर्माङ्गभूत उद्गीथ आदि में आदित्य आदि की बुद्धि करनी चाहिए। क्योंकि यही युक्ति युक्त है, ऐसा करने से कर्म समृद्धि रूप फल की सिद्धि होती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (१/३/१ तथा २/२/१) में कहा गया है कि, 'कर्म के अंगभूत उद्गीथ आदि में जो आदित्य

आदि की भावना पूर्वक उपासना करने का विधान किया गया है तथा वह अवश्य कर्तव्य है क्योंकि ऐसा करने से कर्म समृद्धि रूप फल की सिद्धि होती है।' इससे यही सिद्ध होता है कि कनिष्ठ वस्तु में श्रेष्ठ की भावना का नाम प्रतीक उपासना है।

सूत्र ७ : 'आसीनः सम्भवात्।'

भावार्थ : बैठे हुए ही उपासना करनी चाहिए क्योंकि बैठे हुए ही निर्विघ्न उपासना संभव है।

व्याख्या— परमेश्वर का जैसा रूप सुनने और विचार करने में आता है उसका बार-बार तैल धारावत् निरन्तर चिन्तन करते रहने का नाम उपासना है। यह उपासना चलते-फिरते या अन्य शारीरिक काम करते समय नहीं हो सकती क्योंकि उस समय चित्त विक्षिप्त रहता है तथा सोते हुए करने से भी निद्रा रूप विघ्न आना स्वाभाविक है। अतः केवल बैठकर करने से ही निर्विघ्न उपासना हो सकती है। गीता (६/१२) में भी कहा है, 'आसन पर बैठकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।'

सूत्र ८ : 'ध्यानाच्च।'

भावार्थ : उपासना का स्वरूप ध्यान है। इसलिए भी यही सिद्ध होता है कि बैठकर उपासना करनी चाहिए।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/१/८) में कहा है, 'अपने इष्टदेव का ध्यान ही उपासना का स्वरूप है।' और चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है। अतः यह बैठकर ही किया जा सकता है। चलते फिरते या सोकर नहीं।

सूत्र ९ : **'अचलत्वं चापेक्ष्य ।'**

भावार्थ : तथा श्रुति में शरीर की निश्चलता को आवश्यक बताकर ध्यान करने का उपदेश किया गया है ।

व्याख्या – श्वेताश्वतर उपनिषद् (२/८) में कहा गया है कि 'ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ध्यान का अभ्यास करने वाले को चाहिए कि सिर, ग्रीवा और छाती इन तीनों को उठाये हुए, शरीर को सीधा और स्थिर करके समस्त इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में निरुद्ध करके ॐकार रूप नौका द्वारा समस्त भयदायक जन्मान्तर रूप स्रोतों से तर जाय ।' इससे यह सिद्ध होता है कि उपासना के लिए शरीर की अचलता आवश्यक है, इसलिए उपासना बैठकर ही करनी चाहिए ।

सूत्र १० : **'स्मरन्ति च ।'**

भावार्थ : तथा ऐसा ही स्मरण करते हैं ।

व्याख्या— गीता (६/१३-१४) में भी कहा गया है कि शरीर, सिर और ग्रीवा को सम और अचल धारण किये हुए स्थिर होकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ निर्भय होकर भली-भाँति विक्षेप रहित, शान्त चित्त एवं ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित रहते हुए मन को वश में करके, मुझमें चित्त लगाये हुए, मुझे ही अपना परम प्राप्य मानकर साधन करने के लिए बैठे ।' इस प्रकार स्मृति प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि ध्यान का अभ्यास बैठकर ही करना चाहिए ।

सूत्र ११ : **'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।'**

भावार्थ : किसी विशेष स्थान या दिशा का विधान न होने

के कारण यही सिद्ध होता है कि जहाँ चित्त की एकाग्रता सुगमता से हो सके, वहीं बैठकर ध्यान का अभ्यास करे ।

व्याख्या—श्वेताश्वतर उपनिषद् (२/१०) में कहा गया है कि 'जो सब प्रकार से शुद्ध, समतल, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित तथा शब्द, जल और आश्रय की दृष्टि से अनुकूल हो, जहाँ आँखों को पीड़ा पहुँचाने वाला दृश्य न हो और वायु का झोंका भी न लगता हो, ऐसे गुहा आदि स्थान में बैठकर परमात्मा के ध्यान का अभ्यास करना चाहिए ।' इस प्रकार किसी विशेष स्थान एवं दिशा का श्रुति में उल्लेख नहीं है बल्कि जहाँ मन की एकाग्रता में बाधा न पहुँचे ऐसा कोई भी स्थान उपासना के अनुकूल हो सकता है । इनका ध्यान रखकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए ।

सूत्र १२ : 'आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।'

भावार्थ : मरण पर्यन्त उपासना करते रहना चाहिए क्योंकि मरण काल में भी उपासना करते रहने का विधान देखा जाता है ।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् तथा गीता में कहा गया है कि साधक को मृत्यु पर्यन्त उपासना करते रहना चाहिए । यदि इससे पूर्व ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो भी लोक संग्रह के लिए उपासना करना कर्तव्य है । साधक यदि साधना का त्याग कर देता है तो वह योग भ्रष्ट होता है जिससे पुनर्जन्म अनिवार्य हो जाता है ।

सूत्र १३ : 'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।'

भावार्थ : उस परब्रह्म परमात्मा के प्राप्त हो जाने पर आगे

होने वाले और पहले किये हुए पापों का क्रमशः असंपर्क एवं नाश होता है। क्योंकि श्रुति में यही बात जगह-जगह कही गई है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद्(४/१४/३)में कहा गया है कि जिस प्रकार कमल के पत्तेमें जल नहीं सटता है उसी प्रकार परमात्मा को जानने वाले महापुरुष में पाप कर्म लिप्त नहीं होते हैं।' मुण्डक उपनिषद् (२/२/८) एवं गीता (४/३७) में भी ऐसा ही कहा गया है। ज्ञानी के संचित एवं क्रियमाण कर्म समाप्त हो जाते हैं एवं प्रारब्ध कर्म भोग से समाप्त हो जाने से उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

सूत्र १४ : 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु।'

भावार्थ : पुण्यकर्म समुदाय का भी इसी प्रकार सम्बन्ध न होना और नाश हो जाना समझना चाहिए। देहपात होने पर तो वह परमात्मा को प्राप्त हो ही जाता है।

व्याख्या – ज्ञान प्राप्ति के बाद सभी संचित पाप कर्म तो समाप्त हो ही जाते हैं तथा क्रियमाण कर्म का भी संचय बन्द हो जाता है किन्तु इसके साथ ही समस्त पुण्य कर्म भी समाप्त हो जाते हैं तथा सकाम कर्म न करने से आगे के पुण्य कर्म भी संग्रहीत नहीं होते। साथ ही देहपात के बाद प्रारब्ध का भोग भी समाप्त हो जाता है जिससे वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। बृह० उप० (४/४/२२) में कहा है, 'वह पुण्य और पाप इन दोनों से ही निस्सन्देह तर जाता है।'

सूत्र १५ : 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।'

भावार्थ : किन्तु जिनका फलभोग रूप कार्य आरम्भ नहीं

हुआ है ऐसे पूर्वकृत पुण्य और पाप ही नष्ट होते हैं क्योंकि श्रुति में प्रारब्ध कर्म रहने तक शरीर के रहने की अवधि निर्धारित की गई है।

व्याख्या—पूर्व सूत्र में बताया गया है कि पाप और पुण्य दोनों प्रकार के संचित कर्म ईश्वर प्राप्ति पर समाप्त हो जाते हैं जिससे आगे के जीवन की संभावना ही समाप्त हो जाती है किन्तु प्रारब्ध कर्म जिनसे यह वर्तमान शरीर एवं आयु मिली है वे भोग के बाद ही समाप्त होते हैं। इसलिए ज्ञान प्राप्ति के बाद भी शरीर उन भोगों के लिए जीवित रहता है तथा उन भोगों की समाप्ति के बाद देहपात होने पर उनका नाश होता है। इसका अर्थ यही है कि प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति भोग से ही होती है। इसके बाद वह परमात्मा में विलीन हो जाता है। (छा० उ० ६/१४/२)

सूत्र १६ : 'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्।'

भावार्थ : आश्रमोपयोगी अग्निहोत्र आदि विहित कर्मों के अनुष्ठान का विधान तो उन-उन विहित कर्मों की रक्षा करने के लिए ही है। यही श्रुतियों एवं स्मृतियों में देखा गया है।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२२) एवं गीता (३/२५) में कहा गया है कि ज्ञानी को भी बिना आसक्ति के लोक संग्रह के लिए कर्म करते रहना चाहिए। ये कर्म उनकी रक्षा के लिए है जिससे साधारण व्यक्ति कर्मों का त्याग करके भ्रष्ट न हो। इसलिए ज्ञानी के लिए भी कर्मों का विधान किया गया है, यह गीता (३/२२-२४) में भी कही गई है। इस प्रकार ज्ञानी के समस्त कर्म लोक संग्रह के लिए ही किये जाते हैं।

सूत्र १७ : 'अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः।'

भावार्थ : इनसे भिन्न क्रिया भी ज्ञानी और साधक दोनों के लिए ही किसी एक शाखा वालों के मत में विहित है।

व्याख्या—ईशावास्य उपनिषद् (२ तथा ११) में कहा गया है कि 'आजीवन शास्त्र विहित कर्मों को करते हुए ही इस लोक में सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे।' तथा 'जो कर्म और ज्ञान इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह कर्मों द्वारा मृत्यु से तर कर ज्ञान से अमृत को भोगता है।' इस प्रकार एक शाखा वाले ज्ञानी और साधक दोनों के लिए ही सभी विहित कर्मों का अनुष्ठान आजीवन करते रहने का विधान है। अतः ज्ञानी अहंकार और आसक्ति से रहित होकर निष्काम भाव से लोक संग्रह के लिए अवश्य कर्म करता रहे क्योंकि ज्ञान प्राप्ति के बाद इन कर्मों का लय नहीं होता जैसा कि गीता (४/२२ एवं १८/१७) में कहा गया है।

सूत्र १८ : 'यदेव विद्ययेति हि।'

भावार्थ : जो भी विद्या के सहित किया जाता है, इस प्रकार कथन करने वाली श्रुति है। इसलिए विद्या कर्मों का अंग किसी जगह हो सकती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (१/१/१०) में कहा गया है कि, 'जो कर्म विद्या, श्रद्धा और रहस्य ज्ञान के सहित किया जाता है, वह अधिक सामर्थ्य सम्पन्न हो जाता है।' यह श्रुति उद्गीथ आदि की उपासना के प्रकरण की है इसलिए यह विद्या ब्रह्मविद्या नहीं है। इसलिए परमात्म प्राप्ति के लिए

अभ्यास करने वाले उपासकों से इसका सम्बन्ध नहीं है। इस-लिए ब्रह्मविद्या इन कर्मों का अंग नहीं है।

सूत्र १९ : 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते।'

भावार्थ : संचित और क्रियमाण के सिवा दूसरे प्रारब्ध रूप शुभाशुभ कर्मों को तो भोग के द्वारा क्षीण करके वह ज्ञानी परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/१४/२) में कहा गया है कि ज्ञान प्राप्ति (परमात्म प्राप्ति) के बाद ज्ञानी से सभी संचित कर्म जिनका भोग अगले जीवन में होने वाला है वे नष्ट हो जाते हैं तथा क्रियमाण कर्म से उसका सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोगने पर ही छूटते हैं जिसके कारण उसे वर्तमान शरीर मिला है। अतः आयु समाप्ति तक वे सभी भुक्त हो जाते हैं एवं देहपात के बाद इन तीनों प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाने से वह परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

॥ पहला पाद सम्पूर्ण ॥

चौथा अध्याय

दूसरा पाद

सूत्र १ : 'वाङ्‌मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।'

भावार्थ : वाणी मन में स्थित हो जाती है। प्रत्यक्ष देखने से और वेद-वाणी से भी यही सिद्ध होता है।

संदर्भ—ब्रह्मविद्या में तीन प्रकार के उपासक होते हैं। एक साधारण व्यक्ति जिन्हें परमात्मा पर-ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हुई है, दूसरे वे व्यक्ति जो इसी जन्म में जीवन्मुक्त होकर सीधे परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं तथा तीसरे वे व्यक्ति जो परमात्मा को प्राप्त न होकर ब्रह्मलोक में जाकर वहाँ के भोगों को भोगते हैं। इनमें जीवन्मुक्त पुरुषों की गति का वर्णन इस अध्याय के पहले पाद में किया गया है। अब इस पाद में ब्रह्मलोक में जाने वालों की गति किस प्रकार होती है तथा साधारण मनुष्यों की गति में और इसमें कहाँ तक समानता है, इसका विवेचन किया गया है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/८/६) में कहा गया है कि, 'इस मनुष्य के मरकर एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते समय वाणी मन में स्थित हो जाती है, मन प्राण में और प्राण तेज में तथा तेज परम देवता में स्थित हो जाता है।' यहाँ

वाणी का मन में स्थित होना कहा गया है वह वाक् इन्द्रिय का ही स्थित होना है, केवल उसकी वृत्ति मात्र का नहीं। क्योंकि मरणासन्न मनुष्य की वाणी बन्द हो जाती है किन्तु उसका मन विद्यमान रहता है जो आगे की यात्रा में साथ रहता है। यह बात श्रुति में स्पष्ट रूप से कही गई है।

सूत्र २ : 'अत एव च सर्वाण्यनु।'

भावार्थ : इसी से यह भी समझ लेना चाहिए कि उनके साथ-साथ समस्त इन्द्रियाँ मन में स्थित हो जाती हैं।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद् (३/९) में कहा गया है कि 'प्रसिद्ध तेज (गर्मी) ही उदान है। इसलिए जिसके शरीर का तेज शाँत होता है। यह जीवात्मा मन में विलीन हुई इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।' इसलिए उदान वायु के निकलने से शरीर की गर्मी शान्त हो जाती है जिससे जीवात्मा मन में विलीन हुई इन्द्रियों को साथ लेकर दूसरे शरीर में चला जाता है। इस प्रकार एक ही इन्द्रिय नहीं बल्कि समस्त इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सूत्र ४ : 'तन्मनः प्राण उत्तरात्।'

भावार्थ : इसके बाद के कथन से यह स्पष्ट है कि वह इन्द्रियों के सहित मन प्राण में स्थित हो जाता है।

व्याख्या - इसके प्रथम सूत्र में छान्दोग्य उपनिषद् के सूत्र (६/८/६)में कहा गया है कि 'मन प्राण में स्थित हो जाता है।' इससे स्पष्ट है कि मन समस्त इन्द्रियों सहित प्राण में स्थित हो जाता है।

सूत्र ४ : 'सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः।'

भावार्थ : उस जीवात्मा के गमन आदि के वर्णन से यह सिद्ध होता है कि वह प्राण, मन और इन्द्रियों के साथ अपने स्वामी जीवात्मा में स्थित हो जाता है।

व्याख्या—पूर्व श्रुति में प्राण का तेज में स्थित होना कहा गया है किन्तु बिना जीवात्मा के केवल प्राण और मन सहित इन्द्रियों का गमन संभव नहीं है। इसलिए पहले प्राण, मन, इन्द्रियाँ अपने स्वामी जीवात्मा में स्थित होता है फिर वह तेज में स्थित होता है। बृह० उप० (४/४/२) में यही कहा गया है, 'उस समय यह आत्मा नेत्र से, या ब्रह्मरन्ध्र से अथवा शरीर के अन्य मार्ग से शरीर से बाहर निकलता है। उसके निकलने पर उसी के साथ प्राण भी निकलता है, और प्राण के निकलने पर उसके साथ सब इन्द्रियाँ निकलती हैं।'

सूत्र ५ : 'भूतेषु तच्छ्रुतेः।'

भावार्थ : इस विषय में श्रुति प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि प्राण और मन इन्द्रियों सहित जीवात्मा पाँचों सूक्ष्म भूतों में स्थित होता है।

व्याख्या—पूर्व श्रुति में कहा गया है कि प्राण तेज में स्थित होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा, मन और समस्त इन्द्रियाँ, ये सब के सब सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित होते हैं। यह सूक्ष्म भूत समुदाय तेज के साथ मिला हुआ है। अतः तेज के नाम से सूक्ष्म भूत समुदाय का ही कथन है।

सूत्र ६ : 'नैकस्मिन्दर्शयतो हि।'

भावार्थ : एक तेजस्तत्व में स्थित होना नहीं माना जा

सकता क्योंकि श्रुति और स्मृति दोनों जीवात्मा का पाँचों भूतों से युक्त होना दिखलाती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (६/८/६) में कहा गया है कि प्राण तेज में स्थित हो जाता है जैसा कि प्रथम सूत्र में कहा गया है। यहाँ तेज में पाँचों तत्वों का ग्रहण है किन्तु तेज तत्व की प्रधानता होने से उसी के नाम से कहा गया है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्राण और मन इन्द्रियों सहित जीवात्मा एक मात्र तेज तत्व में स्थित नहीं होता बल्कि शरीर के बीजभूत पाँचों भूतों के सूक्ष्म स्वरूप में स्थित होता है। वही उसका सूक्ष्म शरीर है।

सूत्र ७ 'समाना चासत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य।'

भावार्थ : देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में जाने का क्रम आरंभ होने तक दोनों की गति समान ही है, क्योंकि सूक्ष्म शरीर को सुरक्षित रख कर ही ब्रह्मलोक में अमृतत्व लाभ करना ब्रह्म विद्या का फल बताया गया है।

व्याख्या—मृत्यु के समय वाणी मन में स्थित होती है, यहाँ से लेकर प्राण, मन और इन्द्रियों सहित जीवात्मा के सूक्ष्म भूत समुदाय में स्थित होने तक का जो मार्ग है वह ब्रह्मलोक में जाने वालों का तथा साधारण मनुष्यों का जिनका पुनर्जन्म होता है, एक ही है। यहाँ तक सूक्ष्म शरीर रहता है तथा जीवात्मा इसी सूक्ष्म शरीर से ही ब्रह्मलोक में जाता है और वहाँ जाकर उसे अमृत स्वरूप की प्राप्ति होती है तथा अन्य लोकों में तथा अन्य शरीरों में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा ही गमन

होता है। इसलिए यहाँ तक का मार्ग दोनों के लिए समान ही है।

सूत्र ८ : 'तदापीतेः संसारव्यपदेशात्।'

भावार्थ : साधारण जीवों का मरने के बाद बार-बार जन्म ग्रहण करने का कथन होने के कारण यही सिद्ध होता है कि उनका वह सूक्ष्म शरीर मुक्तावस्था प्राप्त होने तक रहता है। इसलिए नया स्थूल शरीर प्राप्त होने के पहले-पहले उनका परमात्मा में स्थित रहना प्रलय काल की भाँति है।

व्याख्या—साधारण जीवों का मृत्यु के बाद पुनर्जन्म होता है। मृत्यु के बाद एवं पुनर्जन्म से पूर्व उनका सूक्ष्म शरीर देवता में स्थित होना प्रथम सूत्र में कहा गया है। यह सूक्ष्म शरीर प्रलय काल की भाँति कर्म-संस्कार के सहित अज्ञान की स्थिति में रहता है। यह परमात्मा की प्राप्ति नहीं है। जब तक उस जीवात्मा को दूसरा उपयुक्त शरीर नहीं मिलता तब तक उसी स्थिति में रहता है। पुनर्जन्म का वर्णन कठोपनिषद् (२/२/७) में किया गया है। सूक्ष्म शरीर के रहने में वह मुक्त पुरुष की भाँति परमात्मा में विलीन नहीं होता।

सूत्र ९ : 'सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः।'

भावार्थ : वेद प्रमाण से और वैसी उपलब्धि होने से भी यही सिद्ध होता है कि जिसमें जीवात्मा स्थित होता है वह भूत समुदाय सूक्ष्म है।

व्याख्या—मृत्यु के बाद स्थूल शरीर तो यहीं छूट जाता है किन्तु वह जीवात्मा मन एवं इन्द्रियों सहित सूक्ष्म भूतों में स्थित

हो जाता है जो उसका सूक्ष्म शरीर है। यह बात श्रुति प्रमाण एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध होती है।

सूत्र १० : 'नोपमर्देनातः।'

भावार्थ : वह भूत समुदाय सूक्ष्म होता है, इसलिए इस स्थूल शरीर का दाह आदि के द्वारा नाश कर देने से उसका नाश नहीं होता।

व्याख्या—मृत्यु के समय जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर के साथ इस स्थूल शरीर से बाहर निकल जाता है इसलिए इस स्थूल शरीर को दाह आदि द्वारा नष्ट कर देने से उसका नाश नहीं होता, न उसको कोई कष्ट ही होता है।

सूत्र ११ : 'अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा।'

भावार्थ : यह गर्मी जो कि जीवित शरीर में अनुभूत होती है, इस सूक्ष्म शरीर की ही है। युक्ति से भी यह बात सिद्ध होती है क्योंकि सूक्ष्म शरीर के निकल जाने पर स्थूल शरीर गर्म नहीं रहता।

व्याख्या—मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर से निकल जाने पर वह ठण्डा हो जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि इस स्थूल शरीर में जो गर्मी है वह उस सूक्ष्म शरीर की ही है।

सूत्र १२ : 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्।'

भावार्थ : यदि कहो कि प्रतिषेध होने के कारण उसका गमन नहीं होता, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उस प्रतिषेध वचन के द्वारा जीवात्मा से प्राणों को अलग होने का निषेध किया गया है।

व्याख्या— बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/६) में बताया गया है कि कामना रहित महापुरुष की गति नहीं होती जिससे उसका ब्रह्मलोक में गमन नहीं होता। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उक्त श्रुति में जीवात्मा से प्राणों के अलग होने का निषेध है, न कि शरीर से। अतः इससे गमन का निषेध नहीं होता अपितु जीवात्मा प्राणों के सहित ब्रह्मलोक में जाता है, इसी बात की पुष्टि होती है।

सूत्र १३ : 'स्पष्टो ह्येकेषाम्।'

भावार्थ : एक शाखा वालों की श्रुति में स्पष्ट ही शरीर से प्राणों के उत्क्रमण न होने की बात कही है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि उसका गमन नहीं होता।'

व्याख्या— नृसिंहोपनिषद् (५) में कहा गया है, 'उस आप्त-काम महापुरुष के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वहीं विलीन हो जाते हैं। वह ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है। बृहदार-ण्यक उपनिषद् (४/४/७) में कहा है, 'वह यहीं ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।' इनसे यही सिद्ध होता है कि उस महापुरुष का लोकान्तर में गमन नहीं होता।

सूत्र १४ : 'स्मर्यते च।'

भावार्थ : तथा स्मृति से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—गीता (५/२०, ५/२५, ५/२६ तथा १५/७) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो महापुरुष जीवन काल में ही ब्रह्म को प्राप्त हो गये हैं उनका किसी भी परलोक में गमन नहीं होता है तथा जहाँ गमन का प्रकरण आया है वहाँ शरीर

के समस्त सूक्ष्म तत्वों को साथ लेकर ही गमन करने की बात कही है।

सूत्र १५ : 'तानि परे तथा ह्याह।'

भावार्थ : वे प्राण, अन्तःकरण, पांच सूक्ष्म भूत तथा इंद्रियाँ सबके सब उस परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं क्योंकि ऐसा ही श्रुति कहती है।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/२/७) में कहा गया है कि, 'उस महापुरुष का जब देहपात होता है उस समय पन्द्रह कलाएँ और मन सहित समस्त इन्द्रियों के देवता ये सब अपने-अपने अभिमानी देवताओं में स्थित हो जाते हैं, उनके साथ जीवन्मुक्त का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसके बाद विज्ञानमय जीवात्मा, उसके समस्त कर्म और उपर्युक्त सब देवता ये सब के सब परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।' इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसा महापुरुष जीवन काल में ही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है तथा प्रारब्ध पूरा होने पर देहपात के बाद वह परमात्मा में विलीन हो जाता है।

सूत्र १६ : 'अविभागो वचनात्।'

भावार्थ : श्रुति के कथन से यह मालूम होता है कि विभाग नहीं रहता।

व्याख्या—मुण्डक उपनिषद् (३/२/८) में कहा है, 'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना नाम रूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम रूप से रहित होकर दिव्य परमपुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार उनका परमात्मा से विभाग नहीं रहता जबकि

साधारण पुरुष जीवात्मा के सहित उन परमदेव में स्थित होता हुआ भी कर्मानुसार उनसे विभक्त ही रहते हैं एवं भिन्न-भिन्न योनियों में कर्मानुसार जन्म ग्रहण करते हैं।

सूत्र १७ : **'तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृति योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया।'**

भावार्थ : स्थूल शरीर से निकलते समय उस जीवात्मा का निवास स्थान जो हृदय है उसके अग्रभाग में प्रकाश हो जाता है। उस प्रकाश से जिनके निकलने का द्वार प्रकाशित हो गया है ऐसा वह विद्वान ब्रह्मविद्या के प्रभाव से तथा उस विद्या का शेष अंग जो ब्रह्मलोक में गमन है, उस गमन विषयक संस्कार की स्मृति के योग से हृदयस्थ परमेश्वर की कृपा से अनुगृहीत हुआ एक सौ नाड़ियों से अधिक जो एक सुषुम्णा नाड़ी है, उसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से निकलता है।

व्याख्या—मरणासन्न मनुष्य के समस्त इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण के लिंग शरीर में एक हो जाने पर हृदय के अग्रभाग में प्रकाश हो जाता है। यही ज्योति साधारण मनुष्य एवं ब्रह्मवेत्ता के शरीर से भिन्न-भिन्न मार्ग से निकलतीं है। ब्रह्म वेत्ता के शरीर से यह ज्योति ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से निकलती है और ब्रह्म विद्या के प्रभाव से ब्रह्मलोक की प्राप्ति के संस्कार की स्मृति से युक्त होकर हृदयस्थ परमेश्वर की कृपा से अनुगृहीत होकर सुषुम्णा नाड़ी से होकर सूर्य की रश्मियों में चला जाता है। इसके विपरीत साधारण मनुष्यों की यह ज्योति

अन्य एक सौ नाड़ियाँ जो हृदय से जुड़ी हैं उनमें अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाने का जो मार्ग है उससे निकलती है। ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् (८/६/६) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२) में कहा गया है।

सूत्र १८ : 'रश्म्यनुसारी।'

भावार्थ : सूर्य की रश्मियों में स्थित हो उन्हीं का अवलम्बन करके वह सूर्य लोक के द्वार से ब्रह्मलोक में चला जाता है।

व्याख्या—ब्रह्मवेत्ता की जीवात्मा स्थूल शरीर से निकलकर इन सूर्य की रश्मियों द्वारा ऊपर चढ़ता है तथा मन की गति से चलकर वह सूर्य लोक में पहुँच जाता है। यह सूर्यलोक ब्रह्मलोक का द्वार है जो साधारण मनुष्यों के लिए बन्द रहता है। साधारण मनुष्य नीचे के लोकों में जाते हैं ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् (८/६/५) में कहा गया है।

सूत्र १६ : 'निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च।'

भावार्थ : यदि कहो कि रात्रि में सूर्य की रश्मियों से नाड़ी द्वारा उसका सम्बन्ध नहीं होता, तो यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि नाड़ी और सूर्य रश्मियों के सम्बन्ध की जब तक शरीर रहता है तब तक सत्ता बनी रहती है। इसलिए दिन हो या रात, कभी भी नाड़ी और सूर्य रश्मियों का सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता। यही बात श्रुति भी दिखाती है।

व्याख्या—यहाँ यह शंका प्रकट की गई है कि रात्रि में मृत्यु

होने पर सूर्य रश्मियाँ न होने से नाड़ी द्वारा उनका सम्बन्ध कैसे होता है ? इस पर कहा गया है कि सूर्य का अर्थ इस दिखाई देने वाले हमारे सूर्य से ही नहीं है बल्कि उस तेजोमय तत्व से है जो अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है तथा वही तेज नाड़ियों में व्याप्त है जिनका परस्पर गमनागमन होता रहता है। इस प्रकार शरीर स्थित वह तेज अन्तरिक्ष में स्थित हो जाता है जिसकी गति ब्रह्मलोक तक है। इसलिए वह तेजोमय पदार्थ अपनी भावना के अनुसार ब्रह्मलोक में शीघ्र ही पहुँच जाता है।

सूत्र २० : 'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे।'

भावार्थ : इस पूर्व में कहे हुए कारण से ही दक्षिण अयन में मरने वाले का भी ब्रह्मलोक में गमन हो जाता है।

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्र में जैसा कहा गया है कि रात्रि में जिसकी मृत्यु होती है वह भी ब्रह्मलोक में जा सकता है, उसी प्रकार सूर्य के दक्षिणायन काल में जिसकी मृत्यु होती है वह भी उस तेज रश्मियों में स्थित होकर ब्रह्मलोक में जा सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है। भीष्म पितामह आदि के विषय में जो कथा है कि उन्हें सूर्य के उत्तरायण होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ी तो वे वसु देवता थे। उन्हें देवलोक में ही जाना था तथा दक्षिणायन के समय देवलोक में रात्रि रहती है। इसलिए उनको उत्तरायण की प्रतीक्षा करनी पड़ी। ब्रह्म-लोक में जाने वालों के लिए कोई बाधा नहीं है।

सूत्र २१ : 'योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ।'

भावार्थ : इसके सिवा योगी के लिए यह काल विशेष का नियम स्मृति में कहा जाता है, तथा वहाँ कहे हुए ये अपुनरावृत्ति और पुनरावृत्ति रूप दोनों मार्ग स्मार्त हैं ।

व्याख्या—गीता में कहा गया है कि दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण में देह त्याग करने वाले का पुनरागमन नहीं होता तथा रात्रि और दक्षिणायन में शरीर त्यागने वाले का पुनरागमन होता है। इस प्रकार ये दो मार्ग श्रुति वर्णित मार्ग से भिन्न हैं । ये मार्ग योगी के लिए कहे गये हैं इसलिए श्रुति में कहे गये मार्ग से इसका कोई विरोध नहीं है । यहाँ काल के वर्णन में उस काल के अभिमानी देवता से है, ऐसा मानने पर श्रुति से इसका कोई विरोध नहीं आता ।

।। दूसरा पाद सम्पूर्ण ।।

चौथा अध्याय

तीसरा पाद

सूत्र १ : 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः।'

भावार्थ : अर्चि से आरम्भ होने वाले एक ही मार्ग से ब्रह्म-लोक को जाते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञानियों के लिए यह एक ही मार्ग विभिन्न नामों से प्रसिद्ध है।

व्याख्या - दूसरे पाद में बताया गया है कि मृत्यु के बाद वाणी का मन में, मन का प्राण में, प्राण का जीवात्मा में तथा जीवात्मा तेज में (सूक्ष्म भूत समुदाय) में स्थित हो जाता है। यहाँ तक का मार्ग साधारण व्यक्ति का तथा ज्ञानी का एक ही है। इसके बाद साधारण मनुष्य कर्मानुसार पुनः संसार में आता है किन्तु ज्ञानी मोक्ष नाड़ी द्वार का आश्रय ले सूर्य की रश्मियों द्वारा सूर्य लोक में पहुँच कर वहाँ से ब्रह्मलोक में चला जाता है। इसमें रात्रि या दक्षिणायन काल की कोई बाधा नहीं है। ब्रह्मलोक में जाने के मार्ग को कहीं अर्चि मार्ग, उत्त-रायण मार्ग और कहीं देवयान मार्ग कहा गया है तथा इनके साथ ही कहीं विभिन्न प्रकार के लोकों का वर्णन आता है, कहीं दिन, पक्ष, मान, अयन और संवत्सर का वर्णन आता है। इन सबका स्पष्टीकरण इस तीसरे पाद में किया गया है।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि श्रुति में ब्रह्मलोक में

जाने के लिए जिन विभिन्न नामों से वर्णन किया गया है वह एक ही मार्ग है क्योंकि वह अर्चि से आरम्भ होने वाला मार्ग है। इसी मार्ग से सब साधक जाते हैं। इसी को देवयान एवं उत्तरायण मार्ग कहते हैं। वह मार्ग विभिन्न लोकों में होकर ही जाता है। जहाँ इनका कम एवं अधिक वर्णन किया गया है वहाँ सभी लोक मान लेना चाहिए।

सूत्र २ : 'वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।'

भावार्थ : वायुलोक को संवत्सर के बाद और सूर्य से पहले समझना चाहिए, क्योंकि कहीं वायु का वर्णन समान भाव से है और कहीं विशेष भाव से है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/१-२) में इस देवयान मार्ग का वर्णन दिया गया है कि, 'ब्रह्मविद्या के रहस्य को जानने वाले अर्चि (ज्योति, अग्नि अथवा सूर्य किरण) को प्राप्त होते हैं। अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से, उत्तरायण को, उत्तरायण से संवत्सर को, संवत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को तथा चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होता है। वहाँ से अमानव पुरुष इनको ब्रह्म के पास पहुँचा देता है। यह देवयान मार्ग है।'

बृहदारण्यक उपनिषद् (५/१०/१) में कहा है, 'जब मनुष्य इस लोक से ब्रह्मलोक को जाता है तो वह वायु को प्राप्त होता है, वायु से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को तथा चन्द्रमा से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। वहाँ अनन्त काल तक का निवास करके वह ब्रह्म में लीन हो जाता है।

कौषीतकि उपनिषद् (१/३) में कहा गया है, 'वह इस देवयान मार्ग को प्राप्त होकर अग्निलोक में आता है। फिर वायु

लोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक तथा प्रजापति लोक में होता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है।'

इन श्रुतियों में छान्दोग्य उप० में वायुलोक का वर्णन नहीं है। इसलिए उसे संवत्सर के बाद और सूर्य से पहले मानना चाहिए।

सूत्र ३ : 'तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्।'

भावार्थ : विद्युत से ऊपर वरुण लोक है। क्योंकि उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

व्याख्या—विद्युत का सम्बन्ध जल से है इसलिए विद्युत से ऊपर वरुण लोक की स्थिति बताई गई है। इसके बाद इन्द्र एवं प्रजापति लोकों की स्थिति मानने से सब श्रुतियों में एकता हो जायेगी।

सूत्र ४ : 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्।'

भावार्थ : वे सब साधकों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा देने वाले उन-उन लोकों के अभिमानी पुरुष हैं। क्योंकि श्रुति में वैसा ही लक्षण देखा जाता है।

व्याख्या—विद्युत लोक तक पहुँचाने का कार्य सूक्ष्म शरीरधारी देवता या मानवाकृति पुरुष करते हैं इन्हें आतिवाहिक कहा जाता है। विद्युत लोक से आगे अमानव पुरुष उस ज्ञानी को ब्रह्म की प्राप्ति कराता है।

सूत्र ५ : 'उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः।'

भावार्थ : दोनों के मोहयुक्त होने का प्रसंग आ जाता है।

इसलिए उनको अभिमानी देवता मानने से ही उनके द्वारा ब्रह्मलोक तक ले जाने का कार्य सिद्ध हो सकता है। अतः वैसा ही मानना चाहिए।

व्याख्या—अर्चि को ज्योति आदि जड़ पदार्थ मान लें या उसे लोक विशेष मान लें तो दोनों ही जड़ पदार्थ होने से जीवात्मा को ब्रह्मलोक तक पहुँचाना असंभव हो जायेगा क्योंकि जीवात्मा को मार्ग का ज्ञान नहीं है इससे देवयान या पितृयान मार्ग को बताने वाला उनका अभिमानी देवता ही मानना उचित है। अतः मार्ग में जिन जिन लोकों का वर्णन आया है उनको उनके अभिमानी देवता ही समझना चाहिए जिनका काम जीवात्मा को अगले लोक में पहुँचा देना है।

सूत्र ६ : 'वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः।'

भावार्थ : वहाँ से आगे ब्रह्मलोक तक विद्युत लोक में प्रकट हुए अमानव पुरुष द्वारा ही पहुँचाये जाते हैं। क्योंकि वैसा ही श्रुति में कहा है।

व्याख्या—जीवात्मा को विद्युत लोक से ब्रह्मलोक तक पहुँचाने का कार्य उसमें प्रकट हुए अमानव पुरुष ही करते हैं। बीच के लोकों के जो अभिमानी देवता हैं वे अपने लोकों में होकर जाने का मार्ग मात्र देते हैं और आवश्यक सहयोग देते हैं।

सूत्र ७ : 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः।'

भावार्थ : आचार्य बादरि का मत है कि कार्य ब्रह्म को अर्थात हिरण्यगर्भ को प्राप्त होते हैं क्योंकि गमन करने के कथन की उपपत्ति इस कार्य ब्रह्म के लिए ही हो सकती है।

व्याख्या—श्रुति में जो लोकान्तर में गमन का कथन है वह ब्रह्म के लिए नहीं बल्कि उसका प्रथम व्यक्त स्वरूप ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ को प्राप्त होने से है जो कार्य ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त है उसके लिए लोकान्तर गमन की क्या आवश्यकता है ।

सूत्र ८ : 'विशेषितत्वाच्च ।'

भावार्थ : तथा विशेषण देकर स्पष्ट कहा गया है, इसलिए भी कार्य ब्रह्म की प्राप्ति मानना ही उचित है ।

व्याख्या—श्रुति में ब्रह्मलोक में ले जाने की बात कही गई है, ब्रह्म को प्राप्त होने की नहीं । इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा कार्य ब्रह्म (ब्रह्मा) को ही प्राप्त होता है तथा उसी लोक में अनन्त काल तक निवास करता है क्योंकि वह लोकों का स्वामी है ।

सूत्र ९ : 'सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ।'

भावार्थ : वह कथन तो ब्रह्म की समीपता के कारण ब्रह्मा के लिए भी हो सकता है ।

व्याख्या—वृहदारण्यक उपनिषद् (६/२/१५) में कहा गया है कि, 'अमानव पुरुष इनको ब्रह्म लोकों में ले जाता है ।' दूसरी श्रुति में कहा है, वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म के समीप ले जाता है ।' इनके अनुसार ब्रह्मा उस परब्रह्म का पहला कार्य होने से ब्रह्म को 'ब्रह्मा' कहा गया है । ऐसा मानना युक्ति संगत हो सकता है ।

सूत्र १० : 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।'

भावार्थ : कार्य रूप ब्रह्मलोक का नाश होने पर उसके

स्वामी ब्रह्मा के सहित इससे श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होने का कथन है। इसलिए पुनरावृत्ति नहीं होगी।

व्याख्या—गीता (८/१६) में कहा गया है कि, 'ब्रह्मा के लोक तक सभी लोक पुनरावृत्ति शील हैं।' तथा श्रुति कहती है कि देवयान मार्ग से जाने वालों का वापस न लौटना स्पष्ट कहा है। मुण्डक उपनिषद् (३/२/६) में कहा है कि जिनका अन्त:करण शुद्ध हो गया है वे ब्रह्म लोकों में जाकर मुक्त हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रलय काल में ब्रह्मलोक का नाश होने पर उसके स्वामी ब्रह्मा के सहित वहाँ गये हुए ब्रह्म उपासक भी परब्रह्म को प्राप्त होकर मुक्त हो जाते हैं। इसलिए उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

सूत्र ११ : 'स्मृतेश्च।'

भावार्थ : स्मृति प्रमाण से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—कूर्म पुराण में लिखा है, 'वे सब शुद्ध अन्त:करण वाले पुरुष प्रलय काल प्राप्त होने पर समस्त जगत् के अन्त में ब्रह्मा के साथ उस परमपद में प्रविष्ठ हो जाते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उन्हें कार्य ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।

सूत्र १२ : 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्।'

भावार्थ : आचार्य जैमिनी का कहना है कि ब्रह्म शब्द का मुख्य वाच्यार्थ होने के कारण परब्रह्म को प्राप्त होता है। यही मानना युक्ति संगत है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (५/१०/१) में कहा गया है 'वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म के समीप पहुँचा देता है।' इसके

अनुसार आचार्य जैमिनि कहते हैं कि यहाँ 'ब्रह्म' शब्द मुख्य-तया परमात्मा का ही वाचक है, इसलिए अर्चि आदि मार्ग से जाने वाले परब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं, कार्य ब्रह्म को नहीं।

सूत्र १३ : **'दर्शनाच्च।'**

भावार्थ : श्रुति में जगह-जगह गति पूर्वक परब्रह्म की प्राप्ति दिखाई गई है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कार्य ब्रह्म की प्राप्ति नहीं है।

व्याख्या – छान्दोग्य (८/६/६), कठोपनिषद् (१/३/६, तथा २/३/१६) में कहा गया है कि जीवात्मा अमृतत्व को, विष्णु के परमधाम को प्राप्त होता है। इस प्रकार जगह-जगह गति पूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति श्रुति में प्रदर्शित की गई है। इससे सिद्ध होता है कि देवयान मार्ग से जाने वाले ब्रह्मविद्या के उपासक परब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं, न कि कार्य ब्रह्म को।

सूत्र १४ : **'न च कार्ये प्रतिपत्यभिसन्धिः।'**

भावार्थ · इसके सिवा उन ब्रह्म विद्या के उपासकों का प्राप्ति विषयक सकल्प भी कार्य ब्रह्म के लिए नहीं है।

व्याख्या—इसके सिवा उन ब्रह्मविद्या के उपासकों का जो प्राप्ति विषयक संकल्प है, वह कार्य ब्रह्म के लिए नहीं है अपितु परब्रह्म परमात्मा को ही प्राप्त करने के लिए उनकी साधना में प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए भी उनको कार्य ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है, परब्रह्म की ही होती है।

सूत्र १५ : **'अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादो-षात्तत्क्रतुश्च।'**

भावार्थ : वाणी आदि प्रतीक का अवलम्बन करके उपासना

करने वालों के सिवा अन्य सब उपासकों को ये अर्चि आदि देवता लोग देवयान मार्ग से ले जाते हैं। अतः दोनों प्रकार से मानने में कोई दोष न होने के कारण उनके संकल्पानुसार परब्रह्म को और कार्य ब्रह्म को प्राप्त कराना सिद्ध होता है। यह व्यास देव कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य बादरायण इसमें अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि कार्य ब्रह्म की उपासना करने वाले तथा परमेश्वर की उपासना करने वाले दोनों को ही वह अमानव पुरुष उनके संकल्पानुसार पहुंचा देते हैं। इसलिए दोनों प्रकार की मान्यता में कोई दोष नहीं है क्योंकि दोनों में उपासक का संकल्प कारण है। परब्रह्म का मार्ग भी प्रजापति ब्रह्मा के ही लोक में होकर जाता है (कौ० उ० १/३)। अतः जिनके अन्तःकरण में भोगों के संस्कार होते हैं उन्हें वे यहीं छोड़ देते हैं तथा जिनके मन में वैसे भाव नहीं होते उन्हें परमधाम में पहुँचा देते हैं। परन्तु देवयान मार्ग से गये हुए दोनों प्रकार के उपासक वापस नहीं लौटते।

सूत्र १६ : 'विशेषं च दर्शयति।'

भावार्थ : इसका विशेष कारण भी श्रुति दिखाती है।

व्याख्या—जो उपासक प्रतीकोपासना करते हैं उनको उन्हीं के अनुसार विभिन्न फल मिलता है। जैसे वाणी की उपासना का फल जहाँ तक वाणी की गति है वहीं तक ले जाती है। इस प्रकार सबके फल में एकता नहीं है। ऐसे उपासक देवयान मार्ग से न तो कार्य ब्रह्म के लोक के अधिकारी हैं न परब्रह्म के परमधाम के। उनका गमन अर्चि मार्ग से नहीं होता।

॥ तीसरा पाद सम्पूर्ण ॥

चौथा अध्याय

चौथा पाद

सूत्र १ : **'सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।'**

भावार्थ : परमधाम को प्राप्त होकर इस जीव का अपने वास्तविक स्वरूप से प्राकट्य होता है । क्योंकि श्रुति में ऐसा ही कहा गया है ।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् में उपासकों के संकल्पानुसार ब्रह्मलोक में पहुंचने पर क्या स्थिति होती है इसका वर्णन है कि 'जो उपासक इस शरीर से ऊपर उठकर परम ज्ञान स्वरूप परमधाम को प्राप्त होता है वह अपने वास्तविक स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है ।' अर्थात् वह प्राकृत सूक्ष्म शरीर से रहित पुण्य-पाप शून्य, जरा-मृत्यु आदि विकारों से रहित, सत्यकाम, सत्य संकल्प, शुद्ध एवं अजर अमर रूप से युक्त हो जाता है । ऐसे व्यक्तियों का सब लोकों में इच्छानुसार गमन होता है ।

सूत्र २ : **'मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।'**

भावार्थ : प्रतिज्ञा की जाने के कारण यह सिद्ध होता है कि वह स्वरूप सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होता है ।

व्याख्या—श्रुति में जगह-जगह यह प्रतिज्ञा की गई है कि 'उस परब्रह्म परमात्मा के लोक को प्राप्त होने के बाद यह

साधक सदा के लिए सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है (मु० उ० ३/२/६)। इससे यह सिद्ध होता है कि वह जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है तथा सभी प्रकार के कर्म संस्कारों से रहित होकर मुक्त हो जाता है।

सूत्र ३ : 'आत्मा प्रकरणात्।'

भावार्थ : प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि वह शुद्ध आत्मा ही हो जाता है।

व्याख्या—गीता (१४/२), मुण्डक उपनिषद् (३/१/३) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (८/३/४) में कहा गया है कि, ब्रह्म-लोक को प्राप्त होने वाला आत्मा सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा के समान परम दिव्य शुद्ध स्वरूप से युक्त हो जाता है।

सूत्र ४ : 'अविभागेन दृष्टत्वात्।'

भावार्थ : उस मुक्तात्मा की स्थिति उस परब्रह्म में अवि-भक्त रूप से होती है। क्योंकि यही बात श्रुति में देखी गई है।

व्याख्या—कठोपनिषद (२/१/१५)में कहा गया है कि, जिस प्रकार शुद्ध जल में गिरा हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकारपरमात्मा को जानने वाले मुनि का आत्मा हो जाता है।' इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् (३/२/८) में कहा है, 'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम रूपों को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही परमात्मा को जानने वाला विद्वान नाम रूप से मुक्त होकर परात्पर, दिव्य, परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा उस परब्रह्म में अविभक्त रूप से ही स्थित होता है।

सूत्र ५ : 'ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः।'

भावार्थ : आचार्य जैमिनि कहते हैं कि ब्रह्म के सदृश रूप से स्थित होता है क्योंकि श्रुति में जो उसके स्वरूप का निरूपण किया गया है, उसे देखने से और स्मृति प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि कहते हैं कि मुण्डक उपनिषद् (३/१/३) में कहा गया है कि, 'वह निर्मल होकर परम समता को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार छा० उ० (८/३/४) में उसका दिव्य स्वरूप से सम्पन्न होना कहा गया है। ऐसा ही गीता (१४/२) में भी कहा गया है। इनसे सिद्ध होता है कि साधक परमात्मा के सदृश दिव्य स्वरूप से सम्पन्न होता है।

सूत्र ६ : 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमि।'

भावार्थ : केवल चेतन मात्र स्वरूप से स्थित रहता है क्योंकि उसका वास्तविक स्वरूप वैसा ही है। ऐसा आचार्य औडुलोमि कहते हैं।

व्याख्या—श्रुति में कहा गया है कि 'यह आत्मा बाहर भीतर के भेद से रहित सबका सब प्रज्ञानघन है' (बृ० उ० ४/५/१३) इसलिए परमधाम में गया हुआ मुक्तात्मा अपने वास्तविक चैतन्यमात्र स्वरूप में स्थित रहता है। ऐसा आचार्य औडुलोमि का मत है।

सूत्र ७ : 'एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः।'

भावार्थ : इस प्रकार से अर्थात् औडुलोमि और जैमिनि के कथनानुसार भी श्रुति में उस मुक्तात्मा के स्वरूप का निरूपण होने से तथा पहले कहे हुए भाव से

भी सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। यह बाद-रायण कहते हैं।

व्याख्या—महर्षि बादरायण कहते हैं कि मुक्तात्मा की तीनों ही प्रकार की स्थिति हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है। जैमिनि के अनुसार मुक्तात्मा का स्वरूप परब्रह्म के सदृश दिव्य गुणों से सम्पन्न होना, औडुलोमि से अनुसार चेतन मात्र स्वरूप में स्थित होना, तथा सूत्र ४ में बताये अनुसार परमेश्वर में अभिन्न रूप से स्थित होना।

सूत्र ८ : 'संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः।'

भावार्थ : उन भोगों की प्राप्ति तो संकल्प से ही होती है क्योंकि श्रुति में यही बात कही गई है।

व्याख्या – छान्दोग्य उपनिषद् (८/१२/५-६) में कहा गया है कि वह मुक्तात्मा मन के द्वारा केवल संकल्प से ही उस लोक के दिव्य भोगों का अनुभव करता है।

सूत्र ९ : 'अतएव चानन्याधिपतिः।'

भावार्थ : इसीलिए तो मुक्तात्मा को ब्रह्मा के सिवा अन्य स्वामी से रहित बताया गया है।

व्याख्या—तैत्तिरीय उपनिषद् (१/६) में कहा गया है कि, 'वह स्वराज्य को प्राप्त हो जाता है, मन के स्वामी हिरण्य-गर्भ को प्राप्त हो जाता है, अतः वह स्वयं बुद्धि, मन, वाणी, नेत्र और श्रोत्र-सबका स्वामी हो जाता है।' उस पर एक ब्रह्मा जी के सिवा अन्य किसी का आधिपत्य नहीं रहता।

सूत्र १० : 'अभावं बादरिराह ह्येवम्।'

भावार्थ : उसके शरीर नहीं होता, ऐसा आचार्य बादरि

मानते हैं क्योंकि इसी प्रकार श्रुति कहती है।

व्याख्या – आचार्य बादरि का कहना है कि कार्य ब्रह्म के लोक में गये हुए मुक्तात्मा के स्थूल शरीर का अभाव होता है, अतः वह बिना शरीर के केवल मन से ही उन भोगों को भोगता है। ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है।

सूत्र ११ : 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।'

भावार्थ : आचार्य जैमिनि मुक्तात्मा के शरीर का अस्तित्व मानते हैं, क्योंकि कई प्रकार से स्थित होने का श्रुति में वर्णन आता है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (७/२६/२) में कहा गया है कि वह मुक्तात्मा नाना प्रकार के भावों से युक्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह शरीर से युक्त होता है।

सूत्र १२ : 'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।'

भावार्थ : वेद व्यास जी कहते हैं कि पूर्वोक्त दोनों मतों से द्वादशाह यज्ञ की भाँति दोनों प्रकार की स्थिति उचित है।

व्याख्या—वेदव्यास जी दोनों आचार्यों के कथन को प्रामाणिक मानते हुए कहते हैं कि उपासक के संकल्प के अनुसार शरीर का रहना और न रहना दोनों ही संभव हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है।

सूत्र १३ : 'तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ।'

भावार्थ : शरीर के अभाव में स्वप्न की भाँति भोगों का उपभोग होता है। क्योंकि यही मानना युक्ति संगत है।

व्याख्या—वेद व्यास जी की यह मान्यता उचित है कि जिस प्रकार स्वप्न में स्थूल शरीर के बिना मन से ही समस्त भोगों का उपभोग होता देखा जाता है वैसे ही ब्रह्मलोक में भी बिना शरीर के समस्त दिव्य भोगों का उपभोग होना संभव है।

सूत्र १४ : 'भावे जाग्रद्वत् ।'

भावार्थ : शरीर होने पर जाग्रत् अवस्था की भाँति उपभोग होना युक्ति संगत है ।

व्याख्या—जैमिनि के अनुसार मुक्तात्मा को शरीर की उपलब्धि होती है, वह उसके द्वारा जाग्रत् अवस्था में जिस प्रकार साधारण मनुष्य विषयों का अनुभव करता है, उसी प्रकार मुक्तात्मा ब्रह्मलोक में भी ऐसा ही अनुभव करता है। ऐसा होना भी संभव है। इसलिए दोनों प्रकार की स्थिति संभव है।

सूत्र १५ : 'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ।'

भावार्थ : दीपक की भाँति सभी शरीरों में मुक्तात्मा का प्रवेश हो सकता है, क्योंकि श्रुति ऐसा दिखाती है।

व्याख्या—जिस प्रकार समस्त दीपकों में एक ही अग्नि प्रकाशित होती है उसी प्रकार एक ही मुक्तात्मा अपने संकल्प से रचे हुए समस्त शरीरों में प्रविष्ठ होकर दिव्य लोकों के भोग का उपभोग कर सकता है, क्योंकि श्रुति में उस एक का ही अनेक रूप होना दिखाया गया है।

सूत्र १६ : 'स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि।'

भावार्थ : सुषुप्ति और परब्रह्म की प्राप्ति—इन दोनों में से किसी एक की अपेक्षा से कहे हुए वे वचन हैं, क्योंकि श्रुतियों में इस बात को स्पष्ट किया है।

व्याख्या—छा० उ० (६/८/१) तथा प्र० उ० (४/७/८) आदि में सुषुप्ति की भाँति किसी प्रकार का ज्ञान न रहने की तथा नदी के समुद्र में मिलने की भाँति का जो कथन है वह लय-अवस्था को लेकर कहा गया है। प्रलय काल में भी प्राणियों की स्थिति सुषुप्ति की ही भाँति होती है। यह ब्रह्म-लोक को प्राप्त हुए अधिकारियों के लिए नहीं है ब्रह्मलोक में जाने वाले अधिकारियों के लिए तो स्पष्ट कहा गया है कि वे वहाँ के दिव्य भोगों को भोगते हैं, अनेक शरीर धारण करते हैं तथा यथेच्छ लोकों में विचरण कर सकते हैं। अतः इन दोनों में विरोध नहीं है।

सूत्र १७ : 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।'

भावार्थ : जगत् की रचना आदि व्यापार को छोड़कर और बातों में ही उनकी सामर्थ्य है, क्योंकि प्रकरण से यही सिद्ध होता है, तथा जगत् की रचना आदि व्यापार से इनका कोई निकट सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है, इसलिए भी वही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतियों में सर्वत्र यही बताया गया है कि इस जड़-चेतनात्मक जगत् की उत्पत्ति, संचालन, और प्रलय

का कार्य उस परब्रह्म परमात्मा का ही है। ब्रह्मलोक में प्राप्त होने वाले मुक्तात्माओं का इन कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे केवल दिव्य भोगों का उपभोग मात्र करते हैं।

सूत्र १८ : 'प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिक मण्डलस्थोक्तेः।'

भावार्थ : यदि कहो कि वहाँ प्रत्यक्ष रूप से इच्छानुसार लोकों में विचरने का उपदेश है अर्थात् वहाँ जाकर इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार बताया गया है तो यह बात नहीं है, क्योंकि वह कहना अधिकारियों के लोकों में स्थित भोगों का उपभोग करने के लिए ही है।

व्याख्या— पूर्व सूत्रों में यह बताया गया है कि वह मुक्तात्मा स्वाराज्य को प्राप्त हो जाता है, वहाँ यह भी कहा गया है कि वह सब के मन के स्वामी (ब्रह्मा) को प्राप्त हो जाता है। (तै० उ० १/६/२)। अतः वह ब्रह्मा के अधीन है। इसलिए जगत् के कार्य में हस्तक्षेप करने में उसका अधिकार नहीं है न उसकी शक्ति ही है। जो अधिकार उसे मिलते हैं वह उन्हीं का उपभोग कर सकता है।

सूत्र १९ : 'विकारावर्ति च तथा हि स्थितियाह।'

भावार्थ : इसके सिवा वह मुक्तात्मा जन्मादि विकारों से रहित ब्रह्मरूप का अनुभव करता है, क्योंकि उसकी वैसी स्थिति श्रुति कहती है।

व्याख्या—श्रुति में ब्रह्म विद्या का मुख्य फल परब्रह्म की प्राप्ति बताया गया है जो जन्म, जरा आदि विकारों को न प्राप्त होने वाला, अजर, अमर, समस्त पापों से रहित तथा

कल्याणमय दिव्य गुणों से सम्पन्न है, ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् (८/१/५) में बताया गया है। इस प्रकार यह फल कर्म फल की भाँति विकारी नहीं हैं। ब्रह्म विद्या का फल परब्रह्म की प्राप्ति ही है जो मुक्तात्मा की स्थिति है।

सूत्र २० : 'दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने।'

भावार्थ : श्रुति और स्मृति भी इसी प्रकार दिखलाती है।

व्याख्या—छान्दोग्य उपनिषद् (८/३/४) में कहा गया है कि 'वह परम ज्योति को प्राप्त हो अपने वास्तविक स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। यही आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है, और यही ब्रह्म है।' यह ब्रह्मलोक अन्य लोकों की भाँति विकारी नहीं है। श्रुति में उसे नित्य, सब पापों से रहित, तथा रजोगुण आदि से शून्य-विशुद्ध कहा गया है। गीता (१४/२) में भी यही कहा गया है। इस प्रकार जीवात्मा का अन्य लोकों में जाना और वहाँ के भोगों का उपभोग करना लीला मात्र है। वह बन्धन कारक एवं पुनर्जन्म का हेतु नहीं है।

सूत्र २१ : 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।'

भावार्थ : भोग मात्र में समता रूप लक्षण से भी यही सिद्ध होता है कि उसका जगत् की रचना आदि में अधिकार नहीं होता।

व्याख्या—जिस प्रकार ब्रह्म समस्त दिव्य कल्याणमय भोगों का उपभोग करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह मुक्तात्मा भी उस ब्रह्मलोक में रहते समय दिव्य भोगों का बिना शरीर के स्वप्न की भाँति केवल संकल्प

से अथवा जाग्रत की भाँति उपभोग करके भी उनसे लिप्त नहीं होता। इस प्रकार भोग मात्र में ब्रह्मा के साथ उसकी समानता है किन्तु ब्रह्मा की भाँति जगत् की रचना में उसका अधिकार और सामर्थ्य नहीं है।

सूत्र २२ : 'अनावृतिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।'

भावार्थ : ब्रह्म में गये हुए आत्मा का पुनरागमन नहीं होता। यह बात श्रुति वचन से सिद्ध होती है।

व्याख्या—जीवात्मा ब्रह्म लोक में जाकर वापस नहीं लौटता। यह छान्दोग्य उपनिषद्, वृहदारण्यक उपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् आदि में बार-बार कही गई है। वहाँ पहुँचकर भी उसकी सामर्थ्य सीमित ही रहती है। वह असीम नहीं हो जाता किन्तु उसका पुनर्जन्म नहीं होता एवं प्रलयकाल में वह ब्रह्म में लय हो जाता है।

॥ चौथा पाद सम्पूर्ण ॥

॥ चौथा अध्याय सम्पूर्ण ॥

॥ वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) सम्पूर्ण ॥

अष्टावक्रगीता

(राजा जनक और अष्टावक्र संवाद)

मूल संस्कृत श्लोक, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या सहित

व्याख्याकार—श्री नन्दलाल दशोरा

अष्टावक्र एक ऐसे बुद्ध पुरुष थे जिनका नाम आध्यात्मिक जगत में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। अल्प आयु में ही इन्हें आत्म ज्ञान हो गया था इनके जीवन के बारे में एक कथा है कि ये शरीर के आठ अंगों से टेढ़े-मेढ़े व कुरूप तो थे ही, अंगों के टेढ़-मेढ़े होने का कारण था कि जब ये गर्भ में थे तो उस समय इनके पिता एक दिन वेद पाठ कर रहे थे तो इन्होंने गर्भ में से ही अपने पिता को टोक दिया कि "रुको, यह सब बकवास है, शास्त्रों में ज्ञान कहां? ज्ञान तो स्वयं के भीतर है। सत्य शास्त्रों में नहीं स्वयं में है। शास्त्र तो शब्दों का संग्रह मात्र है।" ये सुनते ही पिता का अहंकार जाग उठा। वे आत्म ज्ञानी तो थे नहीं, पंडित ही रहे होंगे। पंडितों में अहंकार सर्वाधिक होता है। क्योंकि शास्त्रों के ज्ञाता होने से उनमें जानकारी का अहंकार होता है। इसी अहंकार पर चोट पड़ते ही वह तिलमिला गये होंगे कि उन्हीं का पुत्र उन्हें उपदेश दे रहा है जो अभी पैदा भी नहीं हुआ है। उसी समय उन्होंने शाप दे दिया कि जब तू पैदा होगा तो आठ अंगों से टेढ़ा होगा। ऐसा ही हुआ भी इसलिए उनका नाम पड़ा 'अष्टावक्र'। यह गर्भ से वक्तव्य देने की बात बुद्धि की पकड़ में नहीं आयेगी, तर्क से समझ में नहीं आयेगी, किन्तु इसे आध्यात्मिक दृष्टि से समझा जा सकता है। जैसे बीज में ही पूरा वृक्ष विद्यमान है, तना, शाखाएँ, पत्ते, फूल, फल सभी, किन्तु दिखाई नहीं देता। बीज को तोड़कर देखने से भी कहीं वृक्ष का पता नहीं चलता वैज्ञानिक भी उसे नहीं दिखा सकते। जिसने बीज न देखा हो और वृक्ष ही देखा हो वह

कभी यह नहीं कह सकता कि इस विशाल वृक्ष का कारण छोटा सा बीज हो सकता है फिर यदि वृक्ष की उमर हजारों वर्ष की हो व मनुष्य की पचास वर्ष तो अनेक पीढ़ियों तक वही वृक्ष दिखाई देने पर वे उसे अनादि घोषित कर देंगे कि यह किसी से पैदा नहीं हुआ। संसार में ऐसी अनेकों भ्रान्तियाँ हैं इसी प्रकार मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व को गर्भस्थ शिशु अपने में छिपाये रहता है, अप्रकट अवस्था में। जो कुछ अन्तर्निहित है उसी का विकास होता है। जो भीतर बीज रूप में नहीं है उसका विकास नहीं हो सकता। यह कथा इस तथ्य को प्रकट करती है कि अष्टावक्र का ज्ञान पुस्तकों, पंडितों और समाज से अर्जित नहीं था बल्कि पूरा का पूरा वह स्वयं लेकर पैदा हुए थे। इसी बारह वर्ष के बालक अष्टावक्र से जब राजा जनक ने अपनी जिज्ञासाओं का समाधान कराया तो वही शंका समाधान ये अष्टावक्र गीता है।

प्रकाशक :

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन) हरिद्वार

योगवाशिष्ठ (महारामायण)

सम्पादक—श्री नन्दलाल दशोरा

भारतीय आध्यात्म ग्रंथों में योगवाशिष्ठ का स्थान सर्वोपरि है। अद्वैत की धारणा को परिपुष्ट करने वाला, अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला, एवं भारतीय दर्शन की मान्यताओं का समस्त सार इसमें समाहित है। भारतीय चिंतन का यह प्रतिनिधि ग्रंथ है जिसके मनन से समस्त भ्रांतिपूर्ण धारणाएँ निर्मूल होकर सत्य-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। महर्षि वशिष्ठ ने जो ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था वह उन्होंने भगवान राम को दिया जिससे वह जीवन्मुक्त होकर रहे। इसी वशिष्ठ और राम संवाद के ज्ञान का संग्रह महर्षि बाल्मीकि ने जनकल्याण के लिए किया था।

यह ग्रन्थ केवल तात्विक विवेचन ही नहीं है अपितु मोक्ष साधना की विधि को इसमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पाठक इसका प्रयोग घर बैठे कर सकता है। इसमें न हठयोग जैसी कठिन क्रियाएं करनी हैं, न मंत्रजाप न पूजा और प्रार्थना करनी है। यदि कोई साधक इसमें दी गई विधियों को पूर्णतया प्रयोग करे तो उसे मोक्ष लाभ मिल सकता है।

इस ग्रंथ को पढ़ने के पश्चात् किसी अन्य ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे अन्य ग्रन्थों में भी मिलेंगी; जो इसमें नहीं हैं वे कहीं नहीं मिलेंगी। महर्षि वशिष्ठ ने अनेक उपाख्यानों के माध्यम से जो ज्ञान, भगवान राम को दिया वही योग वाशिष्ठ के नाम से विख्यात यह अमर ग्रन्थ वेदान्त का सारभूत उपदेश माना गया है जिसे अब नवीनतम शैली में श्री नन्दलाल दशोरा ने अनथक प्रयास किया है।

तीन उपनिषद

(ईशावास्य, मुण्डक, श्वेताश्वतर)

लेखक—नन्दलाल दशोरा

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षणिक को ही महत्व देकर शाश्वत की उपेक्षा करता रहता है। किन्तु क्षणिक सुख के पीछे कितना दुःख छिपा है इसका उसे ज्ञान नहीं है। जिस कारण इसके अवश्यम्भावी परिणामों से वह मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय अध्यात्म की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें जीवन और अध्यात्म इन दोनी का ही इस प्रकार समन्वय किया गया है कि जिससे मनुष्य भौतिक जगत में रह कर भी उच्च जीवन हेतु अग्रसर हो सकता है। अध्यात्म की वेदी पर जीवन की बलि भी नहीं दी गई और जीवन के लिए अध्यात्म का तिरस्कार भी नहीं किया गया।

उच्च जीवन के लिए इन्हीं महान आदर्शों का समन्वय और सम्पूर्ण ज्ञान का निरूपण करने वाले ग्रन्थ ही उपनिषद हैं। जो सभी ग्रन्थों को नहीं पढ़ सकते अथवा उनके क्लिष्ट सिद्धान्तों को नहीं समझ सकते उनके लिए उपनिषद ही सर्वोपरि महत्व के हैं। जिनके अध्ययन से उन्हें भारतीय चिंतन की पराकाष्ठा का ज्ञान हो सकेगा। इसी महत्वपूर्ण एवं शाश्वत ज्ञाननिधि का थोड़ा सा परिचय देने के लिए ही इन तीन उपनिषदों का चयन किया गया है।

मूल्य : २०-००

प्रकाशक :

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन) हरिद्वार

पातंजलि योग सूत्र : योगदर्शन

मूल, अनुवाद एवं व्याख्या : नन्दलाल दशोरा

पुस्तक की विषय सूची को चार भागों में विभाजित किया गया है १. समाधिपाद २. साधनपाद ३. विभूतिपाद ४. कैवल्य पाद। प्रथम भाग में—योगशास्त्र का आरम्भ और योग लक्षण चित्त की वृत्तियों के भेद और उनके लक्षण, चित्त वृत्तियों का निरोध, समाधि वर्णन, मन को स्थिर करने के उपाय, समाधि के भेद व उनका फल। द्वितीय भाग में—क्रियायोग का स्वरूप और फल, अविद्या आदि पाँच क्लेश, क्लेशों के नाश का उपाय, दृष्य और दृष्टा का स्वरूप, प्रकृति और पुरुष का संयोग तथा योग के पाँच अंगों का वर्णन है। तृतीय भाग में—धारणा, ध्यान व समाधि का वर्णन, संयम निरूपण, प्रकृति जनित पदार्थों का परिणाम, विवेक ज्ञान और कैवल्य। चतुर्थ भाग में—सिद्धि प्राप्ति के हेतु, संस्कार शून्यता, वासनायें प्रकट होना व उनका स्वरूप, गुणों का वर्णन, चित्त का वर्णन, धर्ममेघ समाधि और कैवल्यावस्था।

नीति ग्रन्थों के अमृत कण

संग्रहकर्ता—बालकृष्ण मुज़तर

हिन्दू शास्त्रों और विभिन्न नीति ग्रन्थों में वर्णित सामान्य जीवन और व्यवहार के लिए उपयोगी महापुरुषों का विवेक विचार। प्रत्येक आयु के पाठक के लिए एक उपयोगी पुस्तक।

प्रकाशक :

रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन) हरिद्वार

भगवान के पांच विचित्र अवतारों की कथा

लेखक—स्वामी श्री अखण्डानन्द जी महाराज

पुस्तक रूप में प्रस्तुत श्री मत्स्यावतार कथा, कच्छपावतार कथा, वराहावतार कथा, वामनावतार कथा तथा नृसिंहावतार कथा में लेखक ने जन साधारण को यह रोचक कथाऐं तो उपलब्ध कराई ही हैं तथा ये भी बताया है कि भगवान की महिमा अनन्त है। निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार सब उन्हीं का स्वरूप है। बुद्धि जितना सोच सकती है, जितना आकलन कर सकती है और जितना बड़ा काल्पनिक मानचित्र बना सकती है उसके भी परे, बहुत परे भगवान विराजमान हैं। मन वहाँ नहीं पहुँच सकता, वाणी उनका वर्णन नहीं कर सकती। हमारे पास देखने और जानने के जितने साधन हैं। उनके बल पर हम भगवान को नहीं पा सकते। वे स्वयं ही कृपा करके जिस पर अपनी महिमा प्रकट कर दें और अपने दर्शन तथा अनुभव का अधिकारी चुन लें, वही उन तक पहुँच सकता है।

गायत्री अर्थ संग्रह : गायत्री चंद्रिका सहित

स्वामी सुरेश्वरानन्द जी द्वारा संग्रहीत

प्रस्तुत ग्रन्थ में गायत्री वेदसार निरूपण, गायत्री शब्द निरूक्ति, प्रणव विचार, याज्ञवल्क्य मुनि कृति गायत्री मन्त्र का अर्थ, भारद्वाज मुनि कृत व्याख्या, माधवाचार्यकृत व्याख्या, विद्यारण्य मुनि कृत व्याख्या, गायत्री जप साधन, गायत्री जप प्रकार निरूपण, आसन, जपमाला, पाणिमाला, कूर्मचक्र, होम विधि, मुद्रा विधि, मुद्रा लक्षण, कवच, ध्यान, पंचमुद्रा लक्षण, विसर्जन मुद्रा लक्षण, शाप विमोचन, गायत्री तर्पण विधि, सन्ध्या विधियाँ, गायत्री मन्त्र, विनियोग मन्त्र, गायत्री पूजन और पुरश्चरण आदि का अपूर्व संग्रह है।

तप और तीर्थ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं,
मोक्ष प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ का मनन ही एकमात्र साधन है।

योगवाशिष्ठ (महारामायण)

व्याख्याकार—श्री नन्द लाल दशोरा

भारतीय अध्यात्म ग्रन्थों में योगवाशिष्ठ का स्थान सर्वोपरि है। अद्वैत की धारणा को परिपुष्ट करने वाला, अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तों का विवेचन करने वाला, एवं भारतीय दर्शन की मान्यता का समस्त सार इसमें समाहित है। भारतीय चिंतन का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसके मनन से समस्त भ्रांतिपूर्ण धारणाऐं निर्मूल होकर सत्य-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। महर्षि वशिष्ठ ने जो ज्ञान अपने पिता ब्रह्मा से प्राप्त किया था वह उन्होंने भगवान राम को दिया जिससे वह जीवन्मुक्त होकर रहे। इसी वशिष्ठ और राम संवाद के ज्ञान का संग्रह महर्षि बाल्मीकि ने जनकल्याण के लिए किया था।

यह ग्रन्थ केवल तात्विक विवेचन ही नहीं है अपितु मोक्ष साधना की विधि को इसमें इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पाठक इसका प्रयोग घर बैठे कर सकता है। इसमें न हठयोग जैसी कठिन क्रियायें करनी हैं, न मंत्रजाप, न पूजा और प्रार्थना करनी है। यदि कोई साधक इसमें दी गई विधियों को पूर्णतया प्रयोग करे तो उसे मोक्ष लाभ मिल सकता है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने के पश्चात् किसी अन्य ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि जो बातें इस ग्रन्थ में हैं वे अन्य ग्रन्थों में भी मिलेंगी; जो इसमें नहीं हैं वे कहीं नहीं मिलेंगी। महर्षि वशिष्ठ ने अनेक उपाख्यानों के माध्यम से जो ज्ञान, भगवान राम को दिया वही योग वाशिष्ठ के नाम से विख्यात यह अमर ग्रन्थ वेदान्त का सारभूत उपदेश माना गया है जिसे अब नवीनतम शैली में श्री नन्द लाल दशोरा ने समझाने का अनथक प्रयास किया है।

प्रकाशक—रणधीर बुक सेल्स (प्रकाशन)

श्रवण नाथ नगर, हरिद्वार उ.प्र.